उदारीकरण के दौर का भारतीय पूंजीवाद

देश में निजीकरण–उदारीकरण और वैश्वीकरण की नितियों को लागू हुए अब 18 साल हो गये हैं। अगस्त 1991 में नरसिंह राव और मनमोहन सिंह की सरकार ने इन नीतियों को लागू किया था। तब से बीते अठारह सालों में देश के पूंजीपति वर्ग ने खूब तरक्की की है। उसका भारत खूब चमका है। पूंजीपति वर्ग की दौलत में बेशुमार वृद्वि हुयी है। इसके साथ ही मध्यम वर्ग के एक हिस्से को भी समृद्वि के कुछ टुकड़े हासिल हुए हैं। दूसरी ओर मजदूर वर्ग, अर्ध सर्वहारा और छोटे उत्पादकों की हालत दिनों–दिन खराब हुयी है। जिस अनुपात में पूंजीपति वर्ग की पूंजी बढ़ती गयी है, उसी अनुपात में इनकी हालत खराब होती गयी है। बल्कि कई छोटे उत्पादकों की हालत तो निरपेक्ष तौर पर खराब हुयी है।

अपनी पूंजी के निरंतर विस्तार से खुश पूंजीपति वर्ग देश के विकास की बात कर रहा है। वह देश के विकास को लक्ष्य घोषित किये हुए है। लेकिन उससे और खासकर उसकी व्यवस्था के संचालकों से यह छिपा नहीं है कि देश का यह विकास देश की ज्यादातर आबादी को भयंकर बदहाली में, कंगाली में धकेल रहा है। यह इस हद तक हो रहा है कि उन्हें स्थिति के विस्फोटक हो जाने की आशंका है। इसलिए शासक वर्गीय हलकों में अब समावेशी विकास की बातें होने लगी हैं। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में तो समावेशी विकास को लक्ष्य घोषित कर दिया गया है।

निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण के अठारह सालों की कौन सी हकीकत है जो शासक वर्गों को समावेशी विकास की बात करने को मजबूर कर रही है? आखिर ये किस चीज से घबराये हुए हैं? इस लेख में हम इसी का जायजा लेंगे और उदारीकृत–वैश्वीकृत भारत के अंतर्विरोधों को चिन्हित करने का प्रयास करेंगे।

। समग्र भारतीय अर्थव्यवस्था

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–2006) की अवधि में भारतीय अर्थव्यवस्था में समग्र विकास दर औसतन सालाना 7ण्7 रही। इसी से उत्साहित होकर भारत के पूंजीपति वर्ग ने 9.10 प्रतिशत विकास दर की बात करनी शुरू कर दी। 11वीं पंचवर्षीय योजना में तो कुल 9 प्रतिशत सालाना वृद्वि का लक्ष्य रख भी लिया गया है।

9.10 प्रतिशत की सालाना वृद्वि दर! भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए यह वाकई बहुत हर्षवर्धक है। दुनिया में थोड़े से देश हैं जो इस रफ्तार से विकास कर रहे हैं और बड़े मुल्कों में तो केवल चीन ही है। इस प्रकार से विकास करते हुए कुछ दशकों में विकसित देशों की श्रेणी में शामिल हो जायेगा और संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, जर्मनी इत्यादि को पीछे छोड़ देगा। केवल चीन ही इससे आगे रह जायेगा। भारत और चीन मिलकर इक्कीसवीं सदी को एशियाई सदी बना देंगे। सुदूर निर्मल भविष्य!

लेकिन सकल घरेलू उत्पाद में तेज वृद्वि दर से नीचे उतरकर अर्थव्यवस्था पर थोड़ा बारीक नजर डालते ही पूंजीपति वर्ग का यह खुशनुमा चित्र गायब हो जाता है और खुरदरा और बदसूरत यथार्थ सामने आ जाता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना से दसवीं तक समग्र अर्थव्यवस्था में वृद्वि दर इस प्रकार रही है।

तालिका .1

(पंचवर्षीय योजनाओं में वृद्वि दर)

योजना		वृद्वि दर प्रतिशत सालाना
1. प्रथम योजना	(1951–55)	3.5
2. दूसरी योजना	(1956–60)	4.2
3. तीसरी योजना	(1961–65)	2.8
4. सालाना योजना	(1966–68)	3.9
5. चौथी योजना	(1969–73)	3.2
6. पांचवी योजना	(1974–78)	4.7
7. सालाना योजना	(1979–80)	–5.2
8. छठी योजना	(1980–84)	5.5
9. सातवी योजना	(1985–89)	5.6
10.सालाना योजना	(1990–91)	3.4
11. आठवीं योजना	(1992–96)	6.5
12. नवीं योजना	(1997–2001)	5.5
13. दसवीं योजना	(2002–06)	7.7

स्रोत–**Eleventh Five year plan, vol-I,Table-2.1**

उपरोक्त तालिका से ऐसा लगता है कि भारत की अर्थव्यवस्था ने 1950–60 के दशक की 3.4 प्रतिशत की सालाना वृद्वि दर को पीछे छोड़ दिया है (जिसे कुछ लोगों ने 'हिन्दू विकास दर' का नाम दिया था) तथा उदारीकरण के जमाने में वह 5.6 प्रतिशत से होते हुए अब 8.9 प्रतिशत सालाना वृद्वि दर के चरण में प्रवेश कर गई है। लेकिन अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की विकास दर को देखने पर अलग ही तस्वीर उभरती है।

तालिका– 2			
(विभिन्न क्षेत्रों में वृद्वि दर–सालाना प्रतिशत)			
क्षेत्र	आठवबीं योजना (1992–96)	आठवबीं योजना (1996–2001)	दसवीं योजना (2002–2006)
1–कृशि	4.72	2.44	2.3
2–उद्योग	7.29	4.29	9.17
3–सेवा	7.28	7.87	9.30
4–कुल	6.54	5.52	7.74
स्रोत–Eleventh Five year plan, vol-I,Table-2.3			

यहां एक छोटा सा तथ्य उभरकर आता है कि कृषि में वृद्वि दर लगातार गिर रही है और वह दसवीं योजना के दौरान **7.7** प्रतिशत की समग्र विकास दर के मुकाबले महज **2.3** प्रतिशत थी। लेकिन क्या यह छोटा सा तथ्य है? **2006–07** में रोजगार के हिसाब से देश की पचास प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर थी। यानी देश के आधे लोगों को रोजगार देने वाले क्षेत्र में वृद्वि दर महज **2.3** प्रतिशत है। इसमें से यदि आबादी में **1.9** प्रतिशत की सालाना वृद्वि दर को निकाल दें तो यह महज **0%4** प्रतिशत रह जाती है! यह है भारत की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की असली विकास दर!

देश की आधी आबादी को रोजगार प्रदान करने वाली खेती को जरा और नजदीक से देखें।

भारत में खेती की समस्याओं के बारे में **11**वीं योजना की रिपोर्ट यह कहती है :

'' दसवीं पंचवर्षीय योजना की मध्यवर्ती समीक्षा ने कृषि और संबंधित क्षेत्रों में **1990** के दशक के मध्य से गति में हास को चिन्हित किया था। वस्तुतः, पिछले करीब दशक भर पहले से भारतीय कृषि ने कई गंभीर चुनौतियों का सामना किया है .. . ... ।

हाल में जिन चीजों ने खाद्य सुरक्षा, किसानों की आय और भुखमरी के मामले में ध्यान खींचा वे इस प्रकार हैं :

***** वृद्वि का धीमा होना।

***** सिंचित और असिंचित क्षेत्रों में आर्थिक असमानता का बढ़ना।

***** व्यापार के उदारीकरण के बाद विश्व माल कीमतों में उतार–चढ़ाव से बढ़ा हुआ खतरा। इसने कपास और तिलहन उत्पादक क्षेत्रों में बुरा असर डाला है।

***** तकनीक का असमान और धीमा विकास।

***** विद्यमान तकनीक और आगतों का अकुशल उपयोग।

***** पर्याप्त प्रोत्साहन और संस्थाओं का न होना।

***** प्राकृतिक संसाधनों के आधार का क्षरण।

***** सतह के नीचे के जल स्तर का तेजी से नीचे जाना जिसने छोटे और सीमान्त किसानों को खास तौर पर प्रभावित किया है।'' (वही, **Vol-III, P-3-4**)

खेती के विभिन्न क्षेत्रों में वृद्वि दर के धीमा होने को यह तालिका दिखाती है :

तलिका–3					
(कृशि के विभिन्न उप क्षेत्रों में सालाना वृद्वि दर)					
काल	छाल	दालें और तिलहन	फल और सब्जियां	अन्य फसलें	सभी फसलें
1951–52 से 1967–68	4.19	2.98	2.67	2.67	3.00
1968–69 से 1980–81	3.43	0.97	4.82	2.98	3.00
1981–82 से 1990–91	3.52	5.41	2.82	1.71	2.97
1991–92 से 1996–97	2.36	2.92	6.07	2.18	3.09
1997–98 से 2001–02	1.49	-1.43	4.11	2.25	2.25
2002–03 से 2006–07	1.28	4.29	2.97	2.46	2.46
स्त्रोत – वही, Vol III table 1.3					

यह तालिका दिखाती है कि पिछले दस सालों में खेती का कुल उत्पादन वृद्वि दर तो गिरा ही है, लेकिन यह अनाजों के मामले में बहुत तेजी से गिरा है। जहां **1951** से **68** के बीच अनाज उत्पादन में वृद्वि दर 4.1 प्रतिशत थी, वहीं वह 1997–07 के बीच डेढ़ प्रतिशत से भी नीचे आ गई। इसे देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पिछले दशक भर में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता तेजी से गिरी है। कुछ आकलनों के अनुसार तो यह आजादी के समय से भी नीचे चली गयी है।

1960 के दशक के मध्य के दशक में खाद्यान्न संकट से गुजरने के बाद भारत के पूंजीपति वर्ग ने 'हरित क्रांति' की शुरुआत की थी। यह जमीन के संबंधों में बिना कोई गुणात्मक बदलाव किये फार्मरों, धनी और मध्यम किसानों को तकनीक और आगतें उपलब्ध कराकर कृषि उत्पादन में वृद्वि का तरीका था। इससे भारत का पूंजीपति वर्ग बिना किसी सामाजिक बदलाव के खाद्यान्न संकट से उबर सकता था। इसमें साम्राज्यवादियों, खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों का भरपूर सहयोग था।

इस तथाकथित हरित क्रांति से भारत का पूंजीपति वर्ग खाद्यान्न संकट से फिलहाल तो उबर गया लेकिन वह भारतीय कृषि को दूरगामी गति देने में अक्षम रहा। भूमि सम्बन्धों में गुणात्मक बदलाव किये बिना केवल तकनीक के बल पर यह हो भी नहीं सकता था। और जब भारत के पूंजीपति वर्ग ने उदारीकरण का रास्ता पकड़ा तो खेती की हालत और भी शोचनीय हो गयी। उसमें वृद्वि दर तेजी से गिरने लगी। नीचे दी गयी तालिका इसे और भी तीखे ढंग से दिखाती है :

तलिका–4

(कृशि के विभिन्न उपक्षेत्रों में सालाना वृद्वि दर)

प्रदेश	1984–85 से 1995–96	1995–96 से 2004–05	बारिश से खेती का प्रतिशत
पंजाब	4.00	2.16	3
हरियाण	4.60	1.98	17
उत्तर प्रदेश	2.82	1.87	32
तमिलनाडु	4.95	-1.36	49
पश्चिम बंगाल	4.63	2.67	49
बिहार	-1.71	3.51	52
आन्ध्र प्रदेश	3.18	2.69	59
कुल भारत	3.62	1.85	60
गुजरात	5.09	0.48	64
राज्स्थान	5.52	0.30	70
ओड़ीसा	-1.18	0.11	73
मध्य प्रदेश	3.63	-0.23	74
कर्नाटक	3.92	0.03	75
महाराश्ट्र	6.66	0.10	83
केरल	3.60	-3.54	85
असम	1.65	0.95	86

स्त्रोत – वही, Vol III table 1.2

यह तालिका और भी सघन रूप में दिखाती है कि खेती में **1995–96** से **2004–05** के बीच कुल वृद्वि दर महज **1.85** प्रतिशत रह गयी थी। यह आबादी के वृद्वि दर से भी नीचे थी। यानी प्रति व्यक्ति उत्पादन ठहर गया।

लेकिन कृषि में आगतों इत्यादि को देखें तो यह आश्चर्यजनक नहीं रह जाता। पिछले सालों में इनमें तीखी गिरावट आई है जिनका कुल परिणाम कृषि में वृद्वि दर में गिरावट के रूप में हुआ है। नीचे की तालिका यह दिखाती है :

तलिका–5			
(कृषि में आगतों इत्यादि में सालाना वृद्धि दर)			
मद	1980–81 से 1990–91	1990–91 से 1996–97	1996–97 से 2005–2006
तकनीक	3.3	2.81	0.0
सार्वजनिक क्षेत्र की निविल स्थिर पूंजी मात्रा	3.86	1.92	1.42
विद्युत उपभोग	14.07	9.44	-0.53
निजि क्षेत्र की निविल स्थिर पूंजी मात्रा	0.56	2.17	1.17
व्यापार की शर्तें	0.190	0.95	-1.69
एन.पी.के. इस्तेमाल	8.17	2.45	2.3
स्त्रोत – वही, Vol III table 1.4			

यहां यह दृष्टव्य है कि कृषि में पूंजी निर्माण के सार्वजनिक क्षेत्र में 1990 के दशक में तेज गिरावट आई। 1980–85 के बीच यह कृषि के सकल घरेलू उत्पाद का 5ण्0 प्रतिशत था जो घटकर 2000–01 में महज 1ण्8 प्रतिश्त रह गया। हालांकि इस बीच निजी क्षेत्र के हिस्से में थोड़ी बढ़ोत्तरी हुयी लेकिन यह सार्वजनिक क्षेत्र की कमी की भरपाई नहीं कर सकता था। 1980–85 के 10.5 प्रतिशत से नीचे गिरकर यह 1999–2000 तक 7.9 प्रतिशत तक चला गया।

इस सबका सीधा असर छोटे व सीमांत किसानों पर पड़ना था। धनी और मध्यम किसान तथा बड़े फार्मर तो तब भी अपने बल पर अपनी उत्पादन क्षमता को बनाये रख सकते थे और बढ़ा सकते थे लेकिन बाकी किसानों के लिये यह संभव नहीं था। इसका असर उनकी बढ़ती कंगाली में दिखा।

खेती के मामले में बात केवल इतनी सी नहीं है कि उसमें उत्पादन गिरा है। इसके साथ यह भी है कि विश्व बाजार से जुड़ जाने के कारण भारतीय कृषि उसकी उठा–पटक का शिकार हो रही है। खासकर छोटे मध्यम किसान इससे तबाह हो रहे हैं।

> ''कृषि में खराब हालत का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि 1980 से 1997 के बीच लगातार बेहतर होने के बाद व्यापार की शर्तें 1999 के बाद कृषि के खिलाफ होती गयीं और आजादी के बाद यह पहली बार हुआ कि कृषि उत्पादों के दाम उसी समय गिरे जब कृषि उत्पादन की वृद्वि दर में गिरावट आई। इसने न केवल कृषि आय में कमी की बल्कि कृषि द्दण तेजी से बढ़ाया। आम तौर पर अब किसान ज्यादा खतरे से रूबरू हैं क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय दाम में उतार–चढ़ाव उससे बहुत ज्यादा है जितने के भारतीय किसान आदी हैं।''
>
> (वही,**Vol-III,P-6)**

पिछले सालों में होता यह रहा है कि कृषि उत्पादनों के आयात निर्यात में बहुत थोड़ी सी मात्रा भी देशी बाजार में उसके दाम में बहुत ज्यादा परिवर्तन ला देती रही है। सरकार द्वारा अनाज को निश्चित दामों पर खरीदने से हाथ खींचने ने भी इस समस्या को और गंभीर बनाया है। सीमांत और छोटे सझोले किसान पूरी तरह बाजार के खिलाड़ियों पर निर्भर हो गये हैं। कृषि उत्पादों में वायदा बाजार ने इसे और गंभीर ही किया है। वास्तविक उत्पादकों की खरीद बेच से अलग सट्टेबाज वायदा बाजार में सट्टेबाजी कर रहे है और 'प्राइस डिस्कवरी' के नाम पर दामों में तीखे उतार–चढ़ाव पैदा कर रहे हैं।

खेती का मामला केवल उस तक सीमित नहीं है। खेती उद्योग के लिए कच्चे माल प्रदान करती है और उल्टे आगतों इत्यादि के रूप में उद्योगों के उत्पादों को उपभोग करती है। कृषि पर निर्भर लोग अपने उपभोग की बहुत सी जरूरतें उद्योग से पूरा करते हैं। इसी कारण कृषि की पतली हालत का सीधा असर उद्योग और फिर सेवा क्षेत्र पर पड़ता है। यदि खेती में ठहराव है तो उद्योग भी बहुत तेज विकास नहीं कर सकता और वह करता है तो बहुत असंतुलित व क्षणिक होगा।

जैसा कि हम देख चुके हैं खेती में वृद्वि दर पिछले दशक भर में बहुत कम हुयी है। आबादी में वृद्वि दर को देखते हुए तो वह ठहर गयी है। ऐसे में वहां उत्पादक और व्यक्तिगत उपभोग की गुंजाइश बहुत ज्यादा नहीं बनती। यह देखते हुए कि आज भी देश की आधी आबादी कृषि पर निर्भर है, देश की कुल क्रय शक्ति पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष है। यह देश की औद्योगिक विकास दर की सीमा बांध देती है।

पूरे उदारीकरण के दौर में औद्योगिक क्षेत्र की वृद्वि दर सालाना औसतन करीब 7 प्रतिशत बैठती है। बीच का समय – 1996 से 2002 तक– उद्योग के लिए बुरा रहा जब वृद्वि दर 4 प्रतिशत रह गयी थी। बाद के समय में अपेक्षाकृत तेज वृद्वि ने ही इसकी भरपाई की। यह औसत वृद्वि दर 1980 के दशक के लगभग बराबर ही है।

भारत की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में वास्तविक तेजी असल में सेवा क्षेत्र के कारण आई है। वक्त के साथ सेवा क्षेत्र में वृद्वि दर बढ़ती गयी है और साथ ही समूची अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र का हिस्सा भी। उदारीकरण के दौर में यही क्षेत्र सबसे तेज गति से विकास कर रहा है।

1970–71 में सकल घरेलू उत्पाद में सेवा क्षेत्र का हिस्सा केवल 31.9 प्रतिशत था जो 2006–07 में बढ़कर 54.9 प्रतिशत हो गया। इसके मुकाबले कृषि का हिस्सा महज 18.5 प्रतिशत रह गया है। सेवा क्षेत्र में भी सबसे ज्यादा वृद्वि व्यापार, होटल, रेस्त्रां, संचार, वित्तीय क्षेत्र और जमीन की खरीद–फरोख्त के क्षेत्र में हो रही है।

सेवा क्षेत्र का यह विकास बढ़ते पूंजीवादीकरण, बढ़ती खरीद–फरोख्त और नकदीकरण को दिखाता है। बहुत सारी चीजें जो पहले खरीद–फरोख्त के दायरे से बाहर थी, अब वे उसके भीतर आ रही है। बहुत सारी चीजें कई बार खरीदी–बेची जा रही हैं। इसके लिए पैसे का लेने–देन बढ़ रहा है।

लेकिन भौतिक मालों के उत्पादन में बढ़ोत्तरी के मुकाबले उनकी खरीद–फरोख्त और उसके लिए पैसे के लेन–देन में बढ़ोत्तरी अर्थव्यवस्था के तीखे असंतुलन का सूचक है। वह इस तथ्य में भी अभिव्यक्त होता है कि जिस तेजी से सेवा क्षेत्र का हिस्सा बढ़ रहा है उस तेजी से उसका रोजगार में हिस्सा नहीं बढ़ रहा है। सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा तेजी से घट रहा है और सेवा क्षेत्र का तेजी से बढ़ रहा है (उद्योग का हिस्सा लगभग स्थिर है) लेकिन कृषि पर निर्भर आबादी तेजी से कम होकर सेवा क्षेत्र में नहीं जा रही है। इसी कारण आज भी सकल घरेलू उत्पाद में 18–5 प्रतिशत वाली कृषि 50 प्रतिशत आबादी का बोझ उठाये हुए है। इसके मुकाबले 55 प्रतिशत वाला सेवा क्षेत्र 30 प्रतिशत को रोजगार देता है।

उदारीकरण–वैश्वीकरण के दौर में अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में यह असंतुलन तेजी से बढ़ा है। एक ओर खेती है जो लगभग ठहराव की शिकार है लेकिन जिस पर आबादी का आधा हिस्सा निर्भर है। दूसरी ओर तेजी से फलता–पूफलता सेवा क्षेत्र है जो उसी तेजी से रोजगार को जन्म नहीं दे रहा है और न कृषि से उजड़ने वाली आबादी का खपा रहा है। उद्योग में भी जो वृद्वि हो रही है वह ज्यादातर पूंजी सघनता वाली है। यह वृद्वि कृषि क्षेत्र से ज्यादा है लेकिन सेवा क्षेत्र से कम। कुल मिलाकर यह असंतुलित विकास छोटी सम्पत्ति वाली आबादी को पूंजी के भंवर में खींच रहा है लेकिन उन्हें पूंजीवाद के हिसाब से भी रोजगार में नहीं लगा पा रहा है। एक क्षेत्र की तेज वृद्वि दूसरे क्षेत्र को गति नहीं प्रदान कर रही है बल्कि अन्य तरीकों से पूंजी संचय की प्रक्रिया को अंजाम दे रही है।

भारतीय अर्थव्यवस्था की एक और खासियत इसमें एकाधिकार रही है। भारत के उद्योगों में शुरू से ही कुछ एकाधिकारी घरानों का प्रभुत्व था। यह यूरोपीय देशों की तरह लम्बी प्रक्रिया में छोटे उद्यमों के संकेन्द्रण और केन्द्रीयकरण के तहत नहीं पैदा हुआ था बल्कि शुरू से ही इसका विकास इसी रूप में हुआ था। इसमें साम्राज्यवादी पूंजी के साथ इसके संबंधों का बड़ा हाथ था। आजादी के बाद एम.आर.टी. पी. एक्ट के बाद भी इसमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। आज भी कुछ एक नये–पुराने पूंजीवादी घराने औद्योगिक क्षेत्र में प्रभुत्व रखते हैं।

उदारीकरण के काल में इस प्रवृत्ति ने और जोर पकड़ा है। एकाधिकारी घरानों ने लघु और छोटे उद्योगों को न केवल विस्थापित किया है बल्कि उन्हें अपनी 'सेन्सिलरी यूनिट' या पुर्जे प्रदान करने वाला बना लिया है। कुल मिलाकर उद्योगों में एकाधिकारीकरण बढ़ा है।

खेती और सेवा क्षेत्र में भी इससे जुदा हाल नहीं है। भूमि सुधार के तहत जमीनों का कोई महत्वपूर्ण पुनर्बंटवारा न होने के चलते इसका कुछ हाथों में संकेन्द्रण बना रहा। समय के साथ ये भूस्वामी पूंजीपति फार्मर या धनी किसान में तब्दील हो गये लेकिन व्यापक किसान आबादी के पूंजीवादी विकास का रास्ता अवरुद्व हो गया। इससे पूंजीवादी ध्रुवीकरण की रफ्तार भी धीमी रही, देहोतों से शहरों की ओर पलायन तेज गति से नहीं हुआ। उद्योगों के धीमे और वह भी पूंजी सघन विकास ने भी इस बाधित किया। अब भूमि हदबंदी कानूनों को हटाने की मांग जोर पकड़ रही है। इससे देहातों में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेज होगी। लेकिन शहरों में रोजगार की कमी सम्पत्तिविहीन और रोजगार विहीन लोगों को देहात में रोक कर कंगाली को बढ़ायेगी। साथ ही यह स्थिति को विस्फोटक बनाएगी। पूंजीपति इससे भयभीत है।

उदारीकरण के दौर में बढ़ता केन्द्रीकरण पहले से मौजूद अंतर्विरोधों को और तीखा बना रहा है। एक ओर भारी आबादी रोजगार विहीन है, दूसरी ओर छोटी सम्पत्ति के मालिक भी सम्पत्तिहीन होकर उनकी कतारों में शामिल हो रहे हैं। भारतीय पूंजीवाद के पूंजी सघन विकास के चलते उन्हें अनौपचारिक क्षेत्र में अपनी जीविका ढूढ़ने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। भारतीय पूंजीवाद ऐसा है कि इसके 'विकास' के दौर में भी वह लोगों को मजदूर के तौर पर नहीं खपा पा रहा है। मजदूरों की रिजर्व आर्मी बढ़ती जा रही है। अनौपचारिक क्षेत्र का दायरा फैलता जा रहा है।

उदारीकरण–वैश्वीकरण के दौर में विदेशी पूंजी के आगमन ने इन प्रवृत्तियों को और तेज किया है। इन नीतियों को लागू करते हुए शासक वर्ग ने ढेर सारे तर्क पेश किये थे। लेकिन वस्तुतः साम्राज्यवादी पूंजी के देश में मुक्त प्रवाह से केवल इतना हुआ है कि पूंजीपति वर्ग का मुनाफा बढ़ा है और मध्यम वर्ग के एक हिस्से को ज्यादा तनख्वाहों और बेहतर उपभोक्ता सामग्री के रूप में कुछ जूठन प्राप्त हुयी है।

उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियां लागू करते वक्त भारत के पूंजीपति वर्ग ने भारी मात्रा में देश में विदेशी पूंजी के आगमन की आशा की थी। लेकिन एक लम्बे समय तक उसकी इच्छा पूरी नहीं हुयी। 1991–92 से 2000–01 तक यह क्रमशः 0.1, 0.3, 0.6, 1. 2, 1. 9, 2.9, 3.5, 2.4 और 2.1 अरब डॉलर ही रही। इतना ही नहीं उदारीकरण के तुरंत बाद एक धमाके के साथ भारत के बाजार में प्रवेश करने वाले कई विदेशी निवेशकों ने पाया कि भारत का बाजार वस्तुतः उतना बड़ा नहीं है, जितना भारत सरकार प्रचारित करती रही है। यहां का मध्यम वर्ग यूरोप–अमेरिका के मध्यम वर्ग की तरह सम्पन्न नहीं है और इसीलिए वह 'यूज एण्ड थ्रो' पर बहुत ज्यादा नहीं चल सकता। लेकिन उन्होंने भारतीय बाजार में पकड़ बनाना जारी रखा और आज उच्च और मध्यम वर्गीय बाजार साम्राज्यवादी 'ब्रैन्डेड' मालों से पटा पड़ा है।

नये दशक में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रवाह में कुछ तेजी आई है। दसवीं योजना के पांच सालों में यह क्रमशः 5.0, 4.3,6.1,7.7 और 16.5 अरब डॉलर रहा।

यहां यह महत्वपूर्ण है कि बाकी पिछड़े देशों की तरह भारत में भी इस साम्राज्यवादी पूंजी का भारी हिस्सा नये उद्योगों को खड़ा करने में नहीं बल्कि विलय और अधिग्रहण में लगा है। यह हिस्सा 40 प्रतिशत तक रहा है। साम्राज्यवादी कंपनियों ने देश में पहले से मौजूद अपनी इकाइयों में अपना हिस्सा बढ़ाया, देशी कंपनियों में हिस्सा खरीदा या उनका अधिग्रहण कर लिया। यही नहीं, उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र की विनिवेश की जा रही कंपनियों में भी हिस्सा खरीदा। इन सबसे भारतीय अर्थव्यवस्था पर विदेशी पकड़ मजबूत हुयी है।

भारत सरकार और पूंजीपति वर्ग ने तर्क पेश किया था कि देश में विदेशी पूंजी के आगमन से यहां तकनीक और उत्पादकता में विकास होगा। वस्तुतः यहां आ रही विदेशी पूंजी ज्यादातर दूसरे–तीसरे दर्जे की तकनीक ही ला रही है। लेकिन जिस हद तक यह नयी तकनीक आ रही है उस हद तक वह देश के भीतर मौजूद अंतर्विरोध को और तेज कर रही है। विकसित और अविकसित के बीच खाई तेजी से बढ़ रही है। देश में एक ओर आधुनिक स्वचालित मशीनें है तो दूसरी ओर लकड़ी के हल। एक और इंटरनेट की दुनिया से जुड़े लोग हैं तो दूसरी ओर अनपढ़ लोग। विदेशी पूंजी का आगमन देश में मौजूद असमानता और असंतुलन को और तेजी से बढ़ा रहा है। यह

सामाजिक तौर पर भी बड़े उथल–पुथल को जन्म दे रहा है। धीमे पूंजीवादी विकास से ग्रस्त पिछड़े देश के लोगों का एक हिस्सा अचानक सबसे आधुनिक से जुड़ जा रहा है।

उत्पादन के क्षेत्र से ज्यादा वित्त और व्यापार के क्षेत्र में भारतीय पूंजीवाद का एकीकरण हुआ है। और इसके परिणाम भी सामने हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था वैश्विक अर्थव्यवस्था के हिचकोलों से बुरी तरह प्रभावित हो रही है।

उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के तहत शेयर बाजार और सट्टेबाजी के अन्य क्षेत्रों में विदेशी पूंजी को छूट दी गई। इसका तत्काल परिणाम हुआ। इन क्षेत्रों में विदेशी पूंजी आई और उसने वहां तेज उठा–पटक का खेल शुरू कर दिया। **1991-92** से इस क्षेत्र में विदेशी पूंजी का प्रवाह क्रमशः हर साल इस प्रकार रहा– **. 004, 0. 2, 3. 6, 3. 8, 2. 8, 3. 0, 1. 8, - . 07, 4. 9** अरब डॉलर। इसके बाद इसमें **2003** में काफी तेज उछाल आया। यह क्रमश% **6. 6, 8. 5, 10.7, 7. 8,** तथा **17. 2** अरब डॉलर था। पांच सालों की इस तेजी ने सेन्सेक्स को **6000** से ऊपर उठाकर **21000** के पार पहुंचा दिया। लेकिन इसके बाद जब **2008** में वैश्विक पूंजीवाद का संकट शुरू हुआ तो उतनी ही तेजी से शेयर बाजार धराशायी भी हो गया। **2008** में करीब दस अरब डॉलर की पूंजी बाहर गई और शेयर बाजार गिरते–गिरते **2009** में **8000** (सेन्सेक्स) से भी नीचे चला गया।

उदारीकरण के दौर में केवल शेयर बाजार ही नहीं, भांति–भांति की सट्टेबाजी तेजी से बढ़ी है। फ्रयूचर्स, आप्शन्स, स्वाप्स का बाजार तेजी से फला–फूला है। इसी तरह मालों का वायदा बाजार भी। जमीनों की खरीद–फरोख्त में भी सट्टेबाज पूंजी भारी मात्रा में घुसी है। इन सबमें विदेशी सट्टेबाज पूंजी ने अपनी भूमिका निभाई है।

देश का उदारीकृत–वैश्वीकृत वित्त बाजार देश की वास्तविक अर्थव्यवस्था पर अपना असर डाल रहा है। भारत सरकार यह प्रचार करती रही कि वैश्विक आर्थिक संकट का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा लेकिन वैश्विक संकट के गहराते ही यह प्रचार हवा हो गया। भारतीय बाजार से विदेशी पूंजी पलायन करने लगी और भारत का वित्त बाजार ठप पड़ गया। भारत सरकार के हाथ–पांव पूफलने लगे। भारी मौद्रिक उपायों के जरिये ही भारत सरकार इसे ध्वस्त हो जाने से बचा पाई।

विदेशी सट्टेबाज पूंजी ने अपनी थोड़ी मात्रा से ही भारत के वित्त बाजार पर मजबूत पकड़ बना ली है। यह यदि उसकी अंतर्राष्ट्रीय ताकत का परिणाम है तो भारत के वित्त बाजार की कमजोरी का भी। भारत के वित्त बाजार की ताकत उसकी गहराई नहीं बल्कि उस पर सरकारी नियंत्रण में थी। इसीलिए जब सरकार ने इस नियंत्रण को ढीला किया तो इस पर विदेशी पूंजी द्वारा कब्जा जमाना बहुत आसान हो गया। विदेशी पूंजी की थोड़ी मात्रा ही शेयर बाजार को उठा–गिरा देती है। इसी तरह मुद्रा बाजार भी थोड़ी पूंजी के आवागमन से अस्थिर हो जाता है।

आज दुनिया के वित्त बाजार से गहराई से जुड़ा हुआ भारत का वित्त बाजार उसकी उठा–पटक को सीधे महसूस कर रहा है। यदि वह किसी हद तक इस उठा–पटक से सुरक्षित है तो इसी कारण कि वित्तीय उदारीकरण अभी पूर्णता तक नहीं पहुंचा है। मुद्रा पूरी तरह परिवर्तनीय नहीं हुई है, सार्वजनिक बैंकों पर अभी सरकारी मालिकाना एक हद तक कायम है और वित्त बाजार अभी भी पूरी तरह विनियमित नहीं हैं।

लेकिन भारतीय समाज की जो स्थिति है उसमें यह वित्तीय उदारीकरण बहुत मारक साबित हो रहा है। चाहे शेयर बाजार के लालच में फंसे मध्यम वर्ग की थोड़ी से पूंजी के शेयर बाजार में गायब हो जाने का मामला हो या छोटे–मझोले किसानों व अन्य छोटे उत्पादकों को उधार का मामला, सब जगह यह महसूस हो रहा है। किसी भी तरह की सुरक्षा से वंचित लोगों को सरकार कह रही है कि वे उन निजी पेंशन फंडों में पैसा लगायें जो शेयर बाजार में निवेश कर रहे होंगे।

विश्व अर्थव्यवस्था से एकीकरण को व्यापार के जरिये भी इस संकट में बुरी तरह महसूस किया जा रहा है। जैसा कि पहले कहा गया था, कृषि मालों के बाजार के वैश्विक बाजार से जुड़ जाने के कारण इन मालों के दामों में भारी उतार–चढ़ाव होता रहा है और छोटे–मझोले किसान इससे तबाह होते रहे हैं। कृषि संकट में इसका बड़ा योगदान है। लेकिन अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्र यानी उद्योग और सेवा क्षेत्र भी विश्व बाजार से तेजी से जुड़े हैं। वर्तमान संकट में इसका प्रभाव तब दिखा जब निर्यात वाले उद्योग बुरी तरह प्रभावित हुए और उस क्षेत्र में बीसों लाख मजदूर बेरोजगार हो गये।

1991 में नयी नीतियों के लागू होते समय भारत का निर्यात सकल घरेलू उत्पाद का करीब **8** प्रतिशत था और आयात करीब **9** प्रतिशत। उसके बाद यह बढ़कर क्रमशः करीब **14** और **18** प्रतिशत हो गया है। व्यापार घाटा सकल घरेलू उत्पाद के **1** प्रतिशत से बढ़कर **4** प्रतिशत हो गया है। इस तरह भारतीय बाजार का वैश्विक बाजार से एकीकरण बहुत ज्यादा बढ़ा है।

लेकिन अभी आयात–निर्यात भारत के पूंजीपति वर्ग की अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं बढ़ा है। अभी भारतीय व्यापार वैश्विक व्यापार का महज **1** प्रतिशत ही है। यह भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्विक अर्थव्यवस्था में हिस्से के आधे से भी कम है। लेकिन यदि अभी ही इस एकीकरण का इतना बुरा प्रभाव दीख रहा है तो इससे ज्यादा एकीकरण के द्वारा पड़ने वाले प्रभावों की कल्पना ही की जा सकती है।

पिछले सालों में भारत सरकार अपनी पीठ ठोकती रही है कि इसने **1990–91** जैसा भुगतान संतुलन का संकट फिर नहीं आने दिया। इस मायने में इनकी नीतियां कारगर रहीं।

लेकिन जैसा कि ऊपर बताया गया है, भारत का व्यापार घाटा लगातार बढ़ता गया है। यानी कम से कम व्यापार के जरिये भारत ने अपनी बाहरी स्थिति मजबूत नहीं की। चीन का जिससे भारत के पूंजीपति लगातार अपनी तुलना करते रहते हैं, व्यापार इस बीच लगातार अधिशेष में रहा है। यानी निर्यात आयात से ज्यादा रहा है।

ऐसे में भारत की सहायता दो क्षेत्रों ने की। एक, बाहर काम करने वाले मजदूरों द्वारा देश में भेजी जाने वाली मुद्रा। दो, बाद के सालों में सूचना प्रौद्योगिकी तथा बीपीओ का निर्यात। यदि ये दोनों न होते तो भारत कभी भी भुगतान संतुलन के संकट में फंस जाता। विदेशी पूंजी निवेश की मात्रा इस संकट से बचने में कारगर होने के बदले संकट में योगदान ही करती क्योंकि सट्टेबाज पूंजी संकट शुरू होते ही वहां से भागने का प्रयास करती है। बल्कि यहां तक हो सकता है कि वह संकट की शुरुआत ही करती, जैसे कि दक्षिण पूर्व एशिया में हुआ था।

भारत सरकार ने विदेशी ट्टण के मामले में भी अपनी पीठ थपथपाई थी कि उसने ट्टण जाल से खुद को बचाया। लेकिन यहां महत्वपूर्ण है कि कुछ सालों तक घटने के बाद पिछले सालों में विदेशी ट्टण फिर बढ़ा है (सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात में)। इस बार यह बढ़ोत्तरी कंपनियों के ट्टणों के कारण हो रही है। भारत की सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र की बड़ी कंपनियां यूरोप और अमरीकी बाजार से ट्टण इकट्ठा कर रही हैं। यह वे अपने विस्तार के लिए कर रही हैं। इसके चलते भारत का विदेशी ट्टण बढ़ रहा है। सामान्य अवस्थाओं में यह खतरे की बात नहीं है लेकिन अन्य वजहों से संकट गहराते ही यह भी खतरा बन जायेगा।

उदारीकरण–निजीकरण की इन नीतियों का एक अहम हिस्सा था सरकार के बजट घाटे में कमी। बल्कि उदारीकरण के समर्थकों का यह मूल मंत्र था। इनका कहना था कि सरकार भारी भरकम सरकारी तंत्र और अक्षम सार्वजनिक कंपनियों के कारण आय से ज्यादा खर्च करती है। इससे बाजार में अक्षमता तो पैदा होती ही है, साथ ही घाटे की पूर्ति के लिए सरकार जो करती है वह और परेशानी वाला होता है। इससे महंगाई बढ़ती है, ब्याज दरें बढ़ती हैं, कर बढ़ता है, निवेश के लिए पूंजी कम रह जाती है, निजी पहलकदमी कम हो जाती

है इत्यादि। इसी के चलते सरकार को विदेशों से भी कर्ज लेना पड़ता है और फिर भुगतान संतुलन का संकट मुद्रा का संकट आदि पैदा हो जाता है। इस सबसे बचने के लिए और बाजार को पूरी क्षमता से काम करने देने के लिए जरूरी है कि सरकार अर्थव्यवस्था से अपने हाथ खींचे और अपना खर्च घटाये। इसके लिए जरूरी है कि बजट घाटा कम से कम किया जाय।

उदारीकरण की नीतियां अपनाते वक्त सरकार ने भी इसे अपना लक्ष्य बनाया। उसने सरकारी खर्चों में तेज गति से कटौती की, सरकारी विभागों में भर्ती बंद कर दी, सरकारी सब्सिडी में कटौती की, सार्वजनिक सेवाओं पर खर्च कम कर उनका निजीकरण किया सार्वजनिक कंपनियों का निजीकरण किया, पूंजी निवेश (खासकर कृषि) में कटौती की, करों में कटौती की इत्यादि। लेकिन इन सबके बावजूद बजट घाटा कम नहीं हुआ। यहां तक कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के शेयरों को ठीक इसीलिए बेचने से भी यह घाटा कम नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि सरकार का पुलिस व सेना पर खर्च बढ़ता रहा, पहले से लिए ट्टणों पर ब्याज बदस्तूर जारी रहा तथा पूंजीपति वर्ग को भांति–भांति की छूट दी गई, उसे प्रोत्साहन दिया गया। अब फर्क केवल इतना पड़ा था कि सब्सिडी की ज्यादातर राशि गरीब जनता पर नहीं बल्कि अमीरों पर, पूंजीपतियों पर लुटाई जा रही थी।

अंत में बजट घाटे को एक सीमा में बांधने के लिए **2003** में एक कानून बनाया गया। इसमें बजट घाटे की सीमा सकल घरेलू उत्पाद का **3** प्रतिशत तय कर दी गई। लेकिन इसके बावजूद दसवीं योजना में केन्द्र का बजट घाटा **4.4** प्रतिशत और प्रादेशिक सरकारों को मिलाकर घाटा **7.7** प्रतिशत रहा। उदारीकरण के दौर में सरकार के आय और व्यय पर गौर करें तो सरकार की करों से आय लगातार कम होती गई है। सरकार ने सभी करों, खासकर आयकर में कटौती की। इससे करों से आय काफी कम हो गई। जहां तक व्यय का सवाल है, सरकार ने गरीब जनता पर व्यय तो कम किया लेकिन पूंजीपति वर्ग की सुरक्षा पर व्यय कम नहीं हुआ। यही नहीं, पूंजीपति वर्ग को भांति भांति तरीके से सब्सिडी दी। यह था बजट घाटा कम करने का असली तरीका। हां इस बीच यह जरूर हुआ कि सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्यमों के निजीकरण के जरिये पूरा या आधा–तीहा पूंजीपति वर्ग के हाथ में आ गये। पहले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम परोक्ष तौर पर पूंजीपति वर्ग के नियंत्रण में थे और उसे लाभ पहुंचा रहे थे, अब यह सीधे–सीधे होने लगा।

और अंत में यह कि भारत का पूंजीपति वर्ग इन सालों में न केवल फला–फूला है बल्कि उसने बाहर भी पांव पसारे हैं। टाटा द्वारा कोरस का बहुप्रचारित अधिग्रहण तो केवल एक घटना है। भारत मे पूंजीपति वर्ग ने दक्षिण पूर्व एशिया, खाड़ी देशों, अफ्रीका और यूरोप में छोटी–बड़ी कंपनियां लगाई हैं या वहां की कंपनियों का अधिग्रहण किया है। यद्यपि यह साम्राज्यवादियों के मुकाबले कुछ भी नहीं है लेकिन तब भी यह इनकी बढ़ती ताकत और हसरत को दिखाता है।

लेकिन यह दूसरी बात को भी दिखाता है। भारत का घरेलू बाजार इन पूंजीपतियों के लिए पर्याप्त नहीं हो रहा है। इसीलिए वे बाहर का रुख कर रहे हैं। और यह हो भी नहीं सकता। जब देश की ज्यादातर आबादी बस किसी तरह जिन्दा हो तो वह बड़ा बाजार नहीं बन सकती। कम से कम इनकी पूंजी की क्षमता लायक बाजार नहीं बन सकती। अब यह पूंजी के चरित्र में नहीं होता कि वह लोगों की क्रय शक्ति बढ़ाकर बाजार बनाये। वह तो वहां जायेगी जहां क्रय शक्ति पहले से मौजूद है। इसीलिए यह अजीबोगरीब परिघटना हो रही है कि भारत सरकार देश के बड़े मध्यम वर्गीय बाजार का हवाला देकर विदेशी पूंजी को आमंत्रित कर रही है तो भारत के पूंजीपति विदेश में निवेश कर रहे हैं। यहां–वहां हर जगह मौजूद बाजारों के लिए आपाधापी मची हुई है और बाजार में हासिये पर खड़े लोग और हासिये पर धकेले जा रहे हैं।

II बढ़ती क्षेत्रीय असमानता और असंतुलन

भारतीय पूंजीवाद की उपरोक्त समग्र तस्वीर अभी उसके सारे अंतर्विरोधों का खुलासा नहीं करती। यह तस्वीर यह नहीं बताती कि देश के किस हिस्से का कैसा पूंजीवादी विकास हो रहा है।

लेकिन भारत एक समांग देश नहीं है। यह पहले से ही बहुत असमांग है। इसके विभिन्न क्षेत्रों में पहले से बहुत ज्यादा असमानता मौजूद है। यहां मामला केवल विविधता का नहीं है। यह असमानता और असंतुलन का मामला है। पूंजीवाद का विकास समान नहीं होता। यह असमान होता है। और इसीलिए यह पहले से मौजूद असमानता को बहुत बढ़ा देता है। भारत के मामले में भी यही हो रहा है। उदारीकरण के सालों में भारत में पूंजीवाद के 'तेज विकास' के चलते इस असमानता और असंतुलन में भी तेज वृद्वि हुई है। **11**वीं योजना की रिपोर्ट कहती है :

> '' ... पूरे देश में यह व्यापक धाारणा मौजूद है कि प्रदेशों के बीच, प्रदेशों के भीतर क्षेत्रों के बीच, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच और समुदाय के विभिन्न हिस्सों के बीच लगातार असमानता बढ़ रही है और इस काल के तेज विकास के लाभ देश के सभी हिस्सों तथा जनता के सभी हिस्सों में बराबर–बराबर नहीं पहुंचे हैं। कि यह धारणा ठीक है, यह बात कई सूचकांकों के आंकड़ों से प्रमाणित होती है। ... अधिक विकसित और अपेक्षाकृत गरीब प्रदेशों के बीच बढ़ती आय असमानता चिन्ता का विषय है। .. .'' (वही, **टवस.1ए ¦137**)

पहले सकल घरेलू उत्पाद में वृद्वि को लें। जिस वृद्वि दर को लेकर भारत सरकार व पूंजीपति इतने उत्साहित हैं वह सारे प्रदेशों में उतनी नहीं है। बल्कि वह कई प्रदेशों में तो काफी कम है। कई प्रदेशों में वह औसत से काफी नीचे है। नीचे की तालिका इसे दिखाती है।

तलिका–6				
विभिन्न प्रदेशों के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर–सालाना				
क्रमांक	प्रदेश/केन्द्रीय क्षेत्र	आठवीं योजना	नवीं योजना	दसवीं योजना
	गैर विशेष श्रेणी प्रदेश			
1	आंन्ध्र प्रदेश	5.4	4.6	6.7
2	बिहार	2.2	4.0	4.7
3	गोवा	8.9	5.5	7.8
4	गुजरात	12.4	4.0	10.6
5	हरियाणा	5.2	4.1	7.6
6	कर्नाटक	5.2	7.2	7.0
7	केरल	6.5	5.7	7.2
8	मध्य प्रदेश	6.3	4.0	4.3
9	महाराश्ट्र	8.9	4.7	7.9
10	ओड़ीसा	2.1	5.1	9.1
11	पंजाब	4.7	4.4	4.5
12	राजस्थान	7.5	3.5	5.0
13	तमिलनाडु	7.0	6.3	6.0
14	उत्तर प्रदेश	4.9	4.0	4.6
15	प. बंगाल	6.3	6.9	6.1
16	छत्तीस गढ़	N.A.	N.A.	9.2
17	झारखंड	N.A.	N.A.	11.1
	विशेष श्रेणी प्रदेश			
1	अरूणाचल प्रदेश	5.1	4.4	5.8
2	टसम	2.8	2.1	6.1
3	हिमाचल प्रदेश	6.5	5.9	7.3
4	जम्मू एवं कश्मीर	5.0	5.2	5.2
5	मणिपुर	4.6	6.4	11.6
6	मेघालय	3.8	6.2	5.6
7	मिजोरम	N.A.	N.A.	5.9
8	नागालैंड	8.9	2.6	8.3
9	सिक्किम	5.3	8.3	7.7
10	त्रिपुरा	6.6	7.4	8.7
11	उत्तराखंड	N.A.	N.A.	8.8
स्त्रोत – वही, Vol I table 7.1.1				

इस तालिका से दीखता है कि गुजरात और महाराष्ट्र जैसे प्रदेश सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर के मामले में औसत से ऊपर हैं तो बिहार जैसे प्रदेश भी हैं जो औसत से काफी नीचे हैं। लेकिन साथ ही पंजाब जैसे प्रदेशों का ठहराव भी इस तालिका से स्पष्ट है।

इस तालिका से पूंजीपति के चमकते भारत की तस्वीर काफी चकत्तीदार हो जाती है। इसमें भांति–भांति के ध्ब्बे उभर आते हैं। कुछ चमकते प्रदेशों के साथ कई भूरे प्रदेश भी हैं जिनका भूरापन बढ़ रहा है।

लेकिन इस तालिका से प्रदेशों के बीच मौजूद और बढ़ती असमानता का अंदाज नहीं लगता। यह असमानता किस स्तर की है और यह कैसे बढ़ रही है इसे नीचे की तालिका दिखाती है।

तलिका–7			
(सकल प्रादेशिक घरेलू उत्पाद में असमानता)			
साल	न्यूनतम प्रति व्यक्ति उत्पादन वाला प्रदेश	महत्तम प्रति व्यक्ति उत्पादन वाला प्रदेश	प्रति व्यक्ति न्यूनतम और महत्तम उत्पादन का अनुपात प्रतिशत
1993-94	बिहार	पंजाब	30.527
1996-97	बिहार	महाराश्ट्र	27.586
1999-2000	बिहार	पंजाब	28.899
2001-02	बिहार	पंजाब	21.556
2002-03	बिहार	पंजाब	21.608
2003-2004	बिहार	पंजाब	22.705
2004-2005	बिहार	महाराश्ट्र	20.105
स्त्रोत – वही, Vol I table 7.1.3			

यानी न्यूनतम प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद वाले प्रदेश का उत्पादन ग्यारह सालों में महत्तम उत्पादन वाले प्रदेश के **30** प्रतिशत से घटकर **20** प्रतिशत रह गया। इस तरह न्यूनतम और महत्तम के बीच खाई और ज्यादा बढ़ गई। बिहार के लोग पंजाब और महाराष्ट्र के लोगों से और ज्यादा गरीब हो गये।

लेकिन इस तरह बिहार या पंजाब के लोगों की बात करना दिक्कतलब है क्योंकि स्वयं इन प्रदेशों के भीतर विभिन्न क्षेत्राों के बीच भारी असमानता मौजूद है। विकसित प्रदेशों के भीतर सबसे पिछड़े प्रदेशों के पिछड़े इलाकों से भी ज्यादा पिछड़े इलाके मौजूद हैं। वस्तुतः यह योजना रिपोर्ट कहती है :

> '' **7ण1ण9** जबकि प्रदेशों के बीच यह स्थिति है, प्रदेशों के भीतर विभिन्न जिलों और इलाकों के बीच भी ऐसी ही तस्वीर है। यहां तक कि अत्यधिक विकसित प्रदेशों में भी ऐसे क्षेत्रा और जिले मौजूद हैं जिनके सूचकांक सबसे पिछड़े प्रदेशों के सबसे पिछड़े जिलों के अनुरूप हैं। ...'';वही, **Vol-I,P-140)**

नीचे की तालिका इसे ही दिखाती है।

तालिका **–8**
(प्रादेशिक मानव विकास सूचकांक में असमानता)

क्रमांक	प्रदेश	प्रदेश में जिले	प्रदेश सूचकांक	प्रदेश में किसी जिले का महत्तम सूचकांक	प्रदेश में किसी जिले का न्यूनतम सूचकांक	परिवर्तनीयता गुणांक
1-	आंध्र प्रदेश	17	0.515	0.660	0.362	18.36
2-	असम	23	0.407	0.650	0.214	27.99
3-	छत्तीस गढ़	16	0.471	0.625	0.264	21.16
4-	गुजरात	25	0.479	0.582	0.309	16.14
5-	हिमांचल प्रदेश	12	0.433	0.534	0.390	11.14
6-	कर्नाटक	27	0.633	0.753	0.547	7.62
7-	केरल	14	0.733	0.801	0.749	2.37
8-	मध्य प्रदेश	45	0.394	0.694	0.372	11.37
9-	महाराष्ट्र	34	0.580	1.000	0.210	36.55
10-	नागालैण्ड	8	0.620	0.733	0.450	15.89
11-	ओड़ीसा	30	0.404	0.736	0.389	16.94
12-	पंजाब	17	0.537	0.761	0.633	4.93
13-	राजस्थान	32	0.424	0.656	0.456	8.88
14-	सिक्किम	4	0.454	0.501	0.391	8.92
15-	तमिलनाडु	29	0.657	0.757	0.584	5.97
16-	उत्तर प्रदेश	70	0.532	0.710	0.366	11.59
17-	पश्चिम बंगाल	18	0.610	0.780	0.440	16.68

स्रोत– वही, **vol-I table 7.1.8**

इस तालिका पर एक नजर डालने से पता चलता है कि किसी जिले के लिए सबसे महत्तम और न्यूनतम सूचकांक दोनों महाराष्ट्र में हैं। यहां महत्तम सूचकांक पूर्णांक **1** है तो न्यूनतम **0.210**। यह ध्यान में रखने की बात है कि महाराष्ट्र प्रति व्यक्ति उत्पादन में पहले या दूसरे स्थान पर है। इसमें परिवर्तनीयता गुणांक भी सबसे ज्यादा **36.55** है। यह सूचकांक चाहे कम सार्थक हो या ज्यादा लेकिन यह तुलनात्मक तौर पर प्रदेशों के भीतर मौजूद असमानता को उजागर करता है। इससे पता चलता है कि विभिन्न प्रदेशों के भीतर किस तरह असमान विकास हो रहा है। इससे यह भी समझ में आता है कि क्यों विभिन्न प्रदेशों के भीतर नये प्रदेशों की मांग उठ रही है।

देश के भीतर बढ़ती असमानता पर गहरी चिंता प्रकट करते हुए यह योजना रिपोर्ट कहती है :

'' **7.1.10** क्षेत्रीय असंतुलन को दूर करना योजना प्रक्रिया का महत्वपूर्ण उद्देश्य रहा है। लेकिन प्रयासों के बावजूद क्षेत्रीय असमानता बढ़ती गई है तथा खाई बढ़ी है क्योंकि आर्थिक विकास का लाभ ज्यादातर आर्थिक विकसित क्षेत्रों तक सीमित रहा है। यह प्राकृतिक संसाध्न सम्पन्न क्षेत्रा हैं जो लगातार पिछड़ रहे हैं। अपनी बारी में इसने नक्सलवादी आंदोलन की पकड़ मजबूत बनाई है और इन क्षेत्रों में प्रदेशों के विभाजन की मांगों को बल प्रदान किया है। नियंत्राण के खात्मे और अर्थव्यवस्था के बाहर के लिए खोले जाने के बाद बाजार की शक्तियों का दबाव प्रदेशों के बीच और उनके भीतर असमानता को बढ़ा सकता है। इसीलिए उदारीकरण के बाद के काल में प्रदेशों और क्षेत्रों के बीच समानता को बढ़ावा देना केन्द्र का काम बन जाता है।

''**7.1.11** क्षेत्रीय असमानता को हल करना न केवल अपने आप में लक्ष्य है बल्कि यह देश के सामाजिक और आर्थिक ताने–बाने को बनाए रखने के लिए भी जरूरी है क्योंकि इसके बिना देश को असंतोष, अराजकता और कानून व्यवस्था की समस्या का सामना करना पड़ सकता है।'' ;वही, **Vol-I, P-140)**

पूरी दुनिया के पैमाने पर प्राकृतिक संसाध्न सम्पन्न देश सबसे पिछड़े हैं और हमारे देश में भी प्राकृतिक संसाध्न सम्पन्न प्रदेश सबसे पिछड़े हैं। दुनिया और देश के पैमाने पर एक ही प्रक्रिया चल रही है। और उसका एक जैसा परिणाम निकल रहा है। पूंजीवादी विकास देशों, देशों के भीतर प्रदेशों और प्रदेशों के भीतर क्षेत्रों के बीच असमानता को बढ़ाता है। यह पूंजीवाद की सामान्य प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति से छोटे और बहुत समांग देश और प्रदेश ही बच पाते हैं।

भारत का पूंजीपति वर्ग अपने देश के पूंजीवादी विकास से बहुत खुश है। लेकिन यह विकास ही देश के भीतर असमानता और असंतुलन की वह स्थिति पैदा कर रहा है जो स्वयं योजना आयोग के शब्दों में अराजकता और कानून व्यवस्था की समस्या की ओर ले जा सकता है। यानी देश का पूंजीवादी विकास उसे इस कारण विद्रोह और अराजकता की ओर ध्केल सकता है। यह कम से कम पूंजीपति वर्ग के लिए खुश होने की बात तो नहीं है।

III रोजगार की शोचनीय हालत

पूंजीवादी विकास का मतलब है पूंजी का विकास। लेकिन पूंजी बिना मजदूर के काम नहीं कर सकती। इसीलिए पूंजी के विकास के साथ उसके प्रतिध्रुव मजदूरों की संख्या भी बढ़ती जाती है। लेकिन पूंजी के विकास के साथ मजदूरों का 'विकास' नहीं होता। बल्कि इसका उल्टा होता है। जिस मात्राा में पूंजीपति वर्ग की पूंजी बढ़ती जाती है उसी मात्राा में मजदूर वर्ग की हालत सापेक्षतया खराब होती जाती है। मजदूर वर्ग के सामने खड़ी पूंजी की बढ़ती से मजदूर की असहायता बढ़ती जाती है।

पूंजीवाद में मजदूर वर्ग के लिए सबसे अच्छी स्थिति तब होती है जब उसे रोजगार मिल जाय। अन्यथा तो वह बेरोजगार के रूप में रिजर्व आर्मी का हिस्सा होता है। पूंजीवाद की सामान्य तरक्की होती है तो इसमें मजदूरों की, उजरती गुलामों की संख्या बढ़ती चली जाती है। भांति–भांति के छोटी सम्पत्ति के मालिक बरबाद होकर मजदूर वर्ग की कतारों में शामिल होते चले जाते हैं। पूंजीपति वर्ग के लिए यह 'विकास', छोटी सम्पत्ति के मालिकों का उजरती गुलामों में रूपान्तरण, कितना सामान्य है वह इससे दिखता है कि वे इस तरह के विकास को अपनी उपलब्धि बताते हैं। वे जब रोजगार के सृजन की बात करते हैं तो उजरती गुलामी वाला ही रोजगार होता है। यदि सारे सम्पत्तिहीनों को ऐसा रोजगार मिल जाय तो वे उसे अपनी सफलता मानते हैं।

ऐसे में उस पूंजीवादी विकास के चरित्रको बखूबी समझा जा सकता है जो लोगों को यह रोजगार भी न दे पा रहा हो। और भारतीय पूंजीवाद का वर्तमान विकास ऐसा ही है। यह विकास छोटी सम्पत्ति के मालिकों को तबाह कर उजरती गुलामी की ओर ध्केल रहा है लेकिन वे काम पर न लगकर रिजर्व आर्मी में भरती हो रहे हैं। इनमें से भारी संख्या तो ऐसी आबादी है जो जिन्दा रहने के लिए वह कर रही है जिसे आजकल अनौपचारिक क्षेत्रकहा जाता है। अनौपचारिक रोजगार आंशिक और छिपी बेरोजगारी का अड्डा है।

उदारीकरण के सालों में भारत का जो पूंजीवादी विकास हुआ है उसमें स्थाई और नियमित रोजगार के बदले आकस्मिक और अनियमित रोजगार ही पैदा हुआ है। यह इस हद तक हुआ है कि तथाकथित संगठित क्षेत्रमें भी इसी तरह के नये रोजगार पैदा हुए हैं। इसका सीध सा मतलब यह है कि मजदूरों को उनकी श्रम शक्ति का पूरा मूल्य नहीं दिया जा रहा है। उन्हें अपने श्रम शक्ति के मूल्य का आधा –तिहाई ही मिल रहा है। पूंजीपति इस तरह न केवल बेशी मूल्य हड़प रहे हैं बल्कि वे मजदूरी का भी एक हिस्सा हड़प ले रहे हैं। इससे उनका मुनाफा बेतहाशा बढ़ रहा है।

इसे **11**वीं योजना रिपोर्ट इस रूप में स्वीकार करती है :

'' * बेरोजगारी की दर **1993–94** में **6.1** प्रतिशत से **1999–2000** में **7.3** प्रतिशत तक बढ़ गई। यह फिर **2004–05** में **8.3** प्रतिशत तक पहुंच गई।

* खेतीहर मजदूरों में यह बेरोजगारी दर **1993–94** में **9.5** प्रतिशत से **2004–05** में **15.3** प्रतिशत हो गई।

* छिपी बेरोजगारी बढ़ती प्रतीत हो रही है ...

* हालांकि **1999–2000** से **2004–05** के काल में गैर कृषि रोजगार **4.7** प्रतिशत की दर से बढ़ा लेकिन यह ज्यादातर असंगठित क्षेत्रमें हुआ।

* सकल घरेलू उत्पाद में काफी स्वास्थ्यवर्ध्क वृ(के बावजूद संगठित क्षेत्रमें रोजगार वस्तुतः घट गया जिससे पढ़े लिखे नौजवानों में हताशा पैदा हुयी।

... ...

* संगठित क्षेत्रमें मजदूरों की मजदूरी ठहरी रही या उसमें गिरावट आई जबकि प्रबन्ध्न और तकनीकी स्टाफ की तनख्वाहों में भारी वृ(हुयी।

* संगठित क्षेत्रमें मजदूरी का हिस्सा **1980** के दशक के बाद आध रह गया है और यह इस समय दुनिया में सबसे निचले पायदानों में से एक है।'' ;वही, **Vol-I,p-63-64)**

यह है बहुत नरम, सरकारी भाषा में हकीकत का बयान। जो नये रोजगार पैदा हो रहे हैं वे असंगठित क्षेत्र में हैं और स्वयं संगठित क्षेत्र में मजदूरी ठहरी हुयी है या गिर रही है। फिर असंगठित क्षेत्रमें क्या हो रहा होगा? और असंगठित क्षेत्र का रोजगार भी सबको नहीं मिल पा रहा है और बेरोजगारी तेजी से बढ़ रही है। कितना शानदार 'विकास' है पूंजीपति वर्ग का!

भारत में रोजगार की बेहतर तस्वीर हासिल करने के लिए पहले सभी क्षेत्रों में रोजगार को लें।

तलिका–9					
क्षेत्रवार रोजगार का हिस्सा (प्रतिशत में)					
क्षेत्र	1983	1993-94	1999-2000	2004-05	2006-07
कृषि	65.42	61.03	56.64	52.06	50.19
खनन एवं खुदाई	0.66	0.78	0.67	0.63	0.61
मैन्यूफैक्चरिंग	11.27	11.10	12.13	12.9	13.33
बिजली,पानी इत्यादि	0.34	0.41	0.34	0.35	0.33
निर्माण	2.56	3.63	4.44	5.57	5.1
व्यापार,होटल, रेस्त्रां	6.98	8.26	11.20	12.62	13.18
यातायात,संचार	2.88	3.22	4.06	4.61	5.06
वित्तीय सेवाएं, भू क्षेत्र,व्यावसायिक सेवाएं	0.78	1.08	1.36	2.00	2.22
सामुदायिक,सामाजिक व व्यक्तिगत सेवाएं	9.1	10.5	9.16	9.24	8.97
स्त्रोत – वही, Vol I table **7.1.3**					

इस तालिका से स्पष्ट है कि कृषि में रोजगार लगातार घटता गया है। इसका हिस्सा **1983** में **65.42** प्रतिशत से घटकर **2006–07** में **50–19** प्रतिशत रह गया। लेकिन मैनुपफैक्चरिंग में इस काल में महज **2** प्रतिशत का इजापफा हुआ वह भी असंगठित क्षेत्रा में। यदि निर्माण को छोड़ दें तो नये रोजगारों के सृजन उस क्षेत्रा में हुआ जो आम तौर पर सेवा क्षेत्रा में आते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है सकल घरेलू उत्पाद में महज **18.5** प्रतिशत के हिस्से वाली कृषि अभी भी **50** प्रतिशत आबादी का बोझ उठा रही है। यह एक तरह से वहां से न भाग पाने का परिणाम है। यहां बड़े पैमाने की छिपी बेरोजगारी है।

1994 से **2005** के **11** सालों में विभिन्न क्षेत्राों में नये रोजगार का सृजन इस प्रकार रहा : कृषि – **88** लाख, खनन. **0,** मैनुपफैक्चरिंग. **148** लाख, बिजली–पानी–**0,** निर्माण–**100** लाख, व्यापार, होटल और रेस्त्राां–**227** लाख, यातायात, भंडारण व संचार–**76** लाख, वित्तीय सेवाएं, बीमा, भू–व्यावसायिक सेवाएं – **43** लाख और सामुदायिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत सेवाएं –**26** लाख। यानी उन **11** सालों में सबसे ज्यादा रोजगारों का सृजन व्यापार, होटल व रेस्त्राां क्षेत्रा में हुआ। यह है उदारीकरण के दौर का पूंजीवाद इसमें उद्योग के बदले व्यापार और होटल में रोजगार पैदा हो रहे हैं। कहने की बात नहीं कि ये सारे ही रोजगार असंगठित क्षेत्रा में पैदा हो रहे हैं जिसमें कोई नियम–कानून नहीं लागू हो रहे हैं। वहां मजदूरों को अपनी श्रम शक्ति का पूरा मूल्य भी नहीं मिल रहा है। यही नहीं, उन्हें हद से ज्यादा खटा कर वक्त से बहुत पहले मौत के मुंह में ध्केल दिया जा रहा है।

देश के तथाकथित संगठित क्षेत्रा में मजदूरों के लिए कुछ श्रम कानून अभी लागू हो रहे हैं। और इस क्षेत्रा में उदारीकरण के दौर में रोजगार घटा है। नीचे की तालिका यह दिखाती है।

तलिका–10		
(संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर– प्रतिशत सालाना)		
क्षेत्र	1983-1994	1994-2005
सार्वजनिक क्षेत्र	1.53	-0.70
निजि क्षेत्र	0.44	0.58
कुल संगठित	1.20	-0.31
स्त्रोत – वही, Vol I table 4.5		

यानी उदारीकरण के दौर में संगठित क्षेत्र में रोजगार सालाना **0.31** प्रतिशत की दर से घटा। इसमें पहले के **11** सालों में वह **1.20** प्रतिशत सालाना की दर से बढ़ रहा था।

उदारीकरण के दौर में एक महत्पूर्ण परिघटना यह हुयी है कि स्वयं संगठित क्षेत्र में भी ऐसे मजदूरों की संख्या बढ़ी है जिनकी स्थिति असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र जैसी है। उन्हें नियमित व स्थाई मजदूरों जैसी कोई सुविधएं या वेतन हासिल नहीं हैं। संगठित क्षेत्र में जो नया रोजगार पैदा हुआ है वह ज्यादातर ऐसा ही है। असंगठित क्षेत्र के लिए गठित आयोग ने इस तथ्य को रेखांकित किया था। नीचे की तालिका इसे दिखाती है।

तलिका–11

(रोजगार की श्रेणी के व क्षेत्र के हिसाब से बंटवारा) {संख्या करोड़ में, कोष्ठक में प्रतिशत}						
	1999–2000			2004–2005		
	अनौपचारिक	औपचारिक	कुल	अनौपचारिक	औपचारिक	कुल
असंगठित क्षेत्र	34.13	0.14	34.26	39.35	0.14	39.49
	(99.60)	(0.40)	(100)	(99.64)	(0.36)	(100)
संगठित क्षेत्र	2.05	3.37	5.41	2.91	3.34	6.26
	(37.80)	(62.20)	(100)	(46.58)	(53.42)	(100)
कुल	36.17	3.5	39.68	42.26	3.49	4.57
	(91.17)	(8.83)	(100)	(92.38)	(7.46)	(100)
स्त्रोत – वही, **Vol I table 4.7**						

तालिका दिखाती है कि **1999–2000** व **2004–.05** के बीच पांच सालों में कुल औपचारिक रोजगार बढ़ने के बदले **1** लाख घट गया। इसके बदले अनौपचारिक रोजगार **609** लाख बढ़ गया। इसमें संगठित क्षेत्रा में **87** लाख की वृ(हुयी। इस तरह सारा नया रोजगार अनौपचारिक क्षेत्रा में पैदा हुआ। आखिर इस विकास के गुण पूंजीपति क्यों न गायें? विकास के पफलस्वरूप अब संगठित क्षेत्रा में भी लगभग आधे मजदूर (**6.26** करोड़ में से **2.91** करोड़) अनौपचारिक हो गये हैं यानी वे स्थाई मजदूरों की तरह मजदूरी, भविष्य निधि तथा अन्य सुविधाओं से वंचित हैं। इस पर भी पूंजीपति के लिए श्रम अभी लचीला नहीं है। वह सारे श्रम कानूनों को खत्म करने या ढीला करने की मांग कर रहा है।

एक समूह के तौर पर नौजवानों और खेतीहर मजदूरों के बीच बेरोजगारी सबसे ज्यादा है। शहरी युवकों में यह **2004–05** में **12** प्रतिशत थी तो नवयुवतियों में **12.7** प्रतिशत। देहाती युवकों व युवतियों में यह क्रमशः**13.7** व **21.7** प्रतिशत थी। इसी तरह देहाती मजदूरों में यह **15.26** प्रतिशत थी। देहाती मजदूरों में बेरोजगारी **1983** में **7.73** प्रतिशत व **1993–94** में **9.50** प्रतिशत थी।

यहां यह हमेशा ध्यान में रखने की बात है कि बेरोजगारी के ये आंकड़े वास्तविक से कहीं कम बेरोजगारी दिखाते हैं। लेकिन उपरोक्त आंकड़े भी कम भयावह नहीं हैं।

उपरोक्त सारे कुछ से स्पष्ट है कि उदारीकरण के दौर में भारतीय पूंजीवाद का जो तेज विकास हुआ है उसमें मजदूर वर्ग के लिए अनौपचारिक क्षेत्रा में ही नये रोजगार पैदा हुए हैं। बहुत सारे लोग तो इस तरह की मजदूरी से भी वंचित हैं और वे ठेला–खोमचा इत्यादि के बल पर जिन्दा रहने की कोशिश कर रहे हैं। कुल मिलाकर मजदूर वर्ग की मजदूरी गिरी है, कुल आय में उसका हिस्सा बहुत कम हुआ है। मजदूरों का ज्यादातर हिस्सा तो अपनी श्रम शक्ति का मूल्य भी हासिल नहीं कर पा रहा है। पूंजीपति उसका बेशी श्रम ही नही, आवश्यक श्रम भी हड़प ले रहे हैं।

असंगठित क्षेत्रा के लिए गठित आयोग की रिपोर्ट इस संबंध में कहती है

> ''तथ्यों के व्यापक साक्ष्य के आधार पर आयोग को इस निष्कर्ष पर पहुंचने में कोई संकोच नहीं है कि असंगठित क्षेत्रा में मजदूरों की हालत केवल भर्त्सना योग्य है। उन्हें न तो तनख्वाह सहित छुट्टी मिलती है और न न्यूनतम मजदूरी। इसके अलावा, उनका कुछ उद्योगों में संकेन्द्रित होना दिखाता है कि उन्हें अन्य कहीं रोजगार के अवसर उपलब्ध नहीं हैं। ... ...'' (Report on The Work and promotion of the Lively hoods in the unorganised sector, Academic Foundation, 2008-P-48 अनुवाद हमारा)

खेतीहर मजदूरों के बारे में यह रिपोर्ट कहती है :

> ''खेतीहर मजदूर अपने और अपने परिवार के लिए न्यूनतम जीवन स्तर भी हासिल नहीं कर पा रहे हैं। यह मूलतः काम के मौसमी चरित्रा के कारण है जिसमें वे साल के सारे दिन काम नहीं पाते। आगे, खेती के कामों के लिए मजदूरी की दर बहुत कम है जिसमें मजदूरों की आय की जरूरतें (Requirments of income) पूरी नहीं हो पातीं। इसका परिणाम खेतीहर मजदूरों में भारी मात्राा में भुखमरी है।...'' ;वही, **P-133**)

उदारीकरण के दौर में पूंजीपति वर्ग के चमकते भारत में मजदूर वर्ग को यही हासिल हुआ है।

IV छोटे किसान और अन्य छोटे उत्पादक

पूंजीपति वर्ग के तेज, खुशनुमा विकास ने छोटे मझोले किसानों और अन्य छोटे उत्पादकों के लिए वह स्थिति पैदा कर दी है जिसमें न केवल वे लगातार कंगाली की तरपफ बढ़ रहे हैं बल्कि वे अपनी छोटी सम्पत्ति से भी हाथ धो रहे हैं। इस प्रक्रिया की गंभीरता को सबसे तीखे ढंग से किसानों और दस्तकारों की आत्म हत्याओं ने अभिव्यक्त किया है।

खेती में सबसे बुरी हालत छोटे और सीमान्त किसानों की है। उदारीकरण के बाद सरकार द्वारा सब्सिडी में कटौती से कृषि आगतों के दामों में तेज बढ़ोत्तरी हुयी है। यही नहीं, बैंकों द्वारा इन किसानों को ट्टण देने से बचने के कारण इन्हें अपनी आगतों के लिए डीलरों पर निर्भर होना पड़ रहा है। दूसरी ओर पफसल तैयार होने पर उसे खरीदने के लिए कोई सरकारी सुविधा नहीं है। सरकार ने इसे खत्म कर दिया है या कापफी घटा दिया है। इसीलिए ये किसान अपना माल बेचने के लिए उन्हीं डीलरों या आढ़तियों पर निर्भर हैं। ऊपर से यह कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार से जुड़ जाने के कारण पफसलों के दाम बहुत तेजी से ऊपर–नीचे हो रहे हैं। इन सबसे चलते अपनी कमरतोड़ मेहनत की पफसल लेकर जब छोटा किसान बाजार में पहुंचता है तो पाता है कि उसकी लागत भी नहीं निकल पा रही है। दूसरी ओर, पफसल के लिए लिया हुआ कर्ज तेजी से बढ़ता है क्योंकि यह बहुत ऊंचे ब्याज पर सूदखोरों से लिया हुआ होता है। नतीजा यह निकालता है कि छोटा किसान अपनी खेती–बाड़ी से हाथ धो बैठता है। वह लगातार और ज्यादा कंगाली का जीवन जीकर बचने का प्रयास

करता है, अपने घर की श्रम शक्ति को और ज्यादा निचोड़ता है लेकिन बच नहीं पाता। कुछ किसान जो इस प्रक्रिया को झेल नहीं पाते वे आत्महत्या कर लेते हैं। पिछले दस सालों में ऐसे डेढ़ लाख से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है।

भारतीय पूंजीवाद के तेज विकास में छोटी किसानी की यह तबाही वस्तुतः छोटी सम्पत्ति के मालिकों का सम्पत्तिहरण है– पूंजीपति वर्ग के हाथों। देहाती और शहरी दोनों पूंजीपति वर्ग बाजार की शक्तियों के जरिये छोटे किसानों का न केवल बेशी श्रम हड़प रहे हैं बल्कि आवश्यक श्रम का एक हिस्सा भी। यही नहीं, वे उसकी छोटी सम्पत्ति को भी क्रमशः हड़प ले रहे हैं। छोटे किसानों के इस सम्पत्तिहरण से पूंजीपति वर्ग को पफायदा है। इसीलिए वे जब–तब घड़ियाली आंसू बहाने के बाद जो कुछ भी करते हैं वह इस सम्पत्तिहरण को और तेज कर देता है। पूंजीवाद के विकास की प्रक्रिया में हमेशा यही होता है और उदारीकृत भारत में भी यही हो रहा है।

जैसा कि पहले कहा गया है, छोटे किसानों की इस तबाही को कर्जदारी और किसानों की आत्महत्याएं सबसे तीखे रूप में अभिव्यक्त कर रही है। किसानों की आत्महत्याओं पर असंगठित क्षेत्र आयोग की रिपोर्ट कहती है :

> ''कई आत्महत्याओं के अध्ययन से यह मुख्य बात निकल कर आती है कि विभिन्न प्रदेशों में किसानों की आत्महत्याओं में जो तेजी आयी है, उसके सामाजिक आर्थिक कारकों में कर्जदारी सबसे प्रमुख है। ज्यादातर मामलों में, मरने वाला व्यक्ति कर्ज के अनौपचारिक स्रोत पर ज्यादा निर्भर था और उसने उत्पादन के बदले उपभोग के लिए कर्ज लिया हुआ था। साथ ही इसमें ज्यादातर किसान अनपढ़ थे और छोटे तथा सीमान्त किसानों की श्रेणी में आते थे जिन्हें कर्ज के औपचारिक स्रोत उपलब्ध नहीं हैं। इस तरह यह लगता है कि खराब आर्थिक स्थिति के कारण छोटे और सीमान्त किसान कृषि उत्पादन में मौसमी परिवर्तन को तथा कीमतों में उठा–पटक को झेल नहीं पाते और वे कर्ज के दुष्चक्र में पफंस जाते हैं क्योंकि उन्हें अपने उपभोग की जरूरतें पूरी करनी होती है। यह उनमें गंभीर संकट पैदा कर देता है।'' ;वही, **P-135)**

प्रेमचंद के सवा सेर गेहूं की कथा पूंजीपति वर्ग के चमकते भारत में बड़े पैमाने पर दोहराई जा रही है!

देहाती क्षेत्रों में **1991** से **2002** के बीच संस्थागत एजेन्सियों द्वारा दिया जाने वाला कर्ज **64** प्रतिशत से घटकर **57.1** प्रतिशत रह गया। इसके मुकाबले सूदखोरों द्वारा दिया जाने वाला कर्ज इस बीच **17.5** प्रतिशत से बढ़कर **29.6** प्रतिशत हो गया। तालिका **12** किसानों के विभिन्न हिस्सों के बीच कर्ज की स्थिति को दिखाती है।

तलिका–12

(खेती के आकार के हिसाब से कर्जदारी–प्रतिशत) 2003

श्रेणी	औपचारिक	अनौपचारिक	दोनों	कुल
सीमान्त से नीचे	12.7	30.3	3.5	46.5
सीमान्त	18.8	21.7	4.6	45.0
छोटे	25.9	17.9	7.0	50.8
मध्यम व बड़े	34.7	14.4	8.6	57.8
कुल	20.4	23	5.3	48.6

स्त्रोत : Report on the … table 9.1

इस तालिका से लगता है कि सभी श्रेणियों में कर्जदारी कापफी ज्यादा है और मध्यम व बड़े किसानों में तो और भी ज्यादा है। लेकिन तालिका दिखाती है कि अनौपचारिक स्रोत पर सीमान्त व छोटे किसान ज्यादा निर्भर हैं। उल्टे उनके लिए औपचारिक स्रोत ज्यादा उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही यह भी कि कर्जदारी के बोझ को झेलने के लिए उनके पास अन्य संसाधन नहीं होते। इसीलिए वे तबाह हो जाते हैं जबकि बड़े किसान पफलते–पूफलते रहते हैं।

उदारीकरण की नीतियों के तहत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैकों से कहा है कि वे अपनी कार्यक्षमता सुधरें और ज्यादा से ज्यादा मुनापफा कमायें। इसके लिए प्राथमिक क्षेत्रों के कर्ज पर भी उन्हें ढील दे दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों की देहाती शाखाओं की संख्या **1991** में **35134** से घटकर **2006** में **30572** रह गई। छोटे ट्टण लेने वाले (**25000** रुपये से कम) की संख्या भी इस बीच **625. 48** लाख से घटकर **387.33** लाख रह गई। इसी का परिणाम यह हुआ कि देहात में सूदखोरों द्वारा कर्जों का हिस्सा **1991** में **17.5** प्रतिशत से बढ़कर **2002** में **29.6** प्रतिशत हो गया।

यह ध्यान रखने की बात है कि खेती के पूंजीवादीकरण के साथ खेती में वित्त की समस्या महत्वपूर्ण हो जाती है। आगतों के लिए पैसा चाहिए नहीं तो उन्हें उधर पर लेना पड़ेगा। ऐसे में संस्थागत स्रोतों के न होने पर सूदखोरों, डीलरों या आढ़तियों के पास जाना छोटे उत्पादकों की मजबूरी हो जाती है। अपने उपभोग के लिए भी अध्किाध्कि बाजार पर निर्भरता इस चीज को और बढ़ा देती है।

इस तरह देहात में किसानों की कर्जदारी की समस्या इस समय खेती की मूल गति से जुड़ी हुयी है। बाजार की शक्तियों के साथ मिलकर वह छोटे किसानों की कंगाली–तबाही का बड़ा कारण बन रही है।

खेती के तथाकथित विकास के लिए जिस नयी नीति की पूंजीपति वर्ग बात कर रहा है वह ध्नी किसानों, कुलकों और पूंजीवादी पफार्मरों के हित में है। खेती में पफसलों का वैविध्यीकरण, नयी तकनीक तथा बाजार का नये तरीके से इस्तेमाल इत्यादि छोटे किसानों के बस की बात नहीं है। वे सहकारिताओं के माध्यम से भी ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि उन पर ध्नी किसानों का ही कब्जा है। ठेका पर खेती का नुस्खा तो छोटे किसान के लिए और भी खतरनाक है। इसके जरिये वह अपने ही खेत पर उजरती मजदूर बन जायेगा। इस तरह पूंजीपति वर्ग द्वारा खेती के लिए सुझाया जाने वाला हर नुस्खा देहाती वह शहरी पूंजीपति वर्ग की पूंजी बढ़ाने के लिए है जो छोटे किसानों की तबाही को और तेज ही करेगा।

छोटे किसानों की तरह अन्य छोटे उत्पादकों की हालत भी चमकते भारत में दिनों–दिन खस्ता होती जा रही है। उदारीकरण की नीतियों के तहत बाजार की शक्तियों के खुले खेल के सामने ये उत्पादक टिक नहीं पा रहे हैं। चाहे हैण्डलूम क्षेत्र में काम करने वाले लोग

हों या कालीन में या कहीं और वे अपना तथा अपने परिवार का अध्किाध्कि शोषण कराने के बावजूद अपनी तबाही को बचा नहीं पा रहे हैं। उनका भी सम्पत्तिहरण हो रहा है। उनमें से भी लोग आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहे हैं।

इन्हें भी बैंक कर्ज नहीं दे रहे हैं। इनके खातों की संख्या **1996** में कुल खातों की **7.2** प्रतिशत से घटकर **2006** में **2.6** प्रतिशत रह गई (दस्तकारी, ग्रामीण व नन्हे उद्यम तथा लघु उद्यम)। यह संख्या **40.9** लाख से घटकर **21.8** लाख रह गई। कुल उधर भी इस बीच **10.7** प्रतिशत से घटकर **4.1** प्रतिशत रह गया। इसमें भी दस्तकारी वगैरह का और बुरा हाल है।

यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि छोटे उत्पादकों को सूदखोरों से बचाने के बदले पूंजीपति वर्ग अब सूदखोरी को कानूनी करने का विचार कर रहा है। यह कहा जा रहा है कि बैंकों द्वारा छोटे उत्पादकों और गरीब लोगों को कर्ज न देने के कारण सूदखोरी अनिवार्य हो गई है। इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए इसे समाप्त करने का प्रयास करने के बदले इसे नियमित करने का प्रयास करना चाहिए। सूदखोरी के नियमन के लिए नियम–कानून बनाने चाहिए और सूदखोरों के रजिस्ट्रेशन की व्यवस्था की जानी चाहिए। बैंकों को अपनी सेवाएं सूदखोरों को आउटसोर्स कर देनी चाहिए। यह भारत के उभरते पूंजीवाद का, विकसित देशों की जमात में बैठने के लिए लालायित पूंजीपति वर्ग का महान कदम होगा। इसके जरिये वह देश की आबादी के बड़े हिस्से को आधुनिक वित्तीय संस्थाओं से कर्ज मुहैया कराने के बदले उन्हें सूदखोरों के रहमोकरम पर छोड़ देगा। लेकिन आज का भारतीय पूंजीवाद ऐसी ही अंतर्विरोधी गतियों से गतिमान है।

V भुखमरी और स्वास्थ्य

उपरोक्त सारे कुछ को देखते हुए यह स्वाभाविक लगता है कि उदारीकरण के दौर में देश में भुखमरी बढ़ी होगी, लोगों की कंगाली बढ़ी होगी। यदि बेरोजगारी बढ़ रही है, संगठित क्षेत्रा के बदले असंगठित क्षेत्रा में रोजगार बढ़ रहा है, छोटी सम्पत्ति वालों का सम्पत्तिहरण हो रहा है तो इस सबसे सामान्य निष्कर्ष यही निकलना चाहिए कि देश में गरीबी की रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या बढ़ रही है। लेकिन पूंजीपति वर्ग की सरकार के रंग–ढंग निराले हैं। वह कहती है कि इन स्थितियों में भी भुखमरी बढ़ने के बदले घट रही है। सरकार का कहना है कि **1993–94** से **2004–05** के बीच गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या **36** प्रतिशत से घटकर **28** प्रतिशत रह गई।

लेकिन योजना रिपोर्ट जो अन्य बातें कहती है उससे भिन्न निष्कर्ष निकलता है। एक जगह ज्यादा सापफ भाषा में यह रिपोर्ट कहती है :

> '' इस बात पर सहमति बढ़ रही है कि भारत में भुखमरी की रेखा **(2004–05)** में देहाती क्षेत्रा के लिए प्रति व्यक्ति **356** रुपया प्रति माह अपभोग खर्च तथा शहरी क्षेत्रा के लिए **539** रुपया प्रति माहद्ध कापफी नीची है और वह उपभोग की उस टोकरी पर आधरित है जो आज कापफी छोटी पड़ चुकी है। यदि गरीबी की रेखा ऊपर होती तो आबादी में गरीब लोगों की संख्या भी ज्यादा होती।'' (वही **Vol, III, P-79**)

इस रिपोर्ट ने एक बहुत महत्वपूर्ण आंकड़ा प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार **1983** से अब तक कैलोरी और प्रोटीन का उपभोग लगातार घटता गया है।

तलिका–13

(प्रति व्यक्ति कैलोरी और प्रोटीन उपभोग)

श्रेणी	(किलो कैलोरी/दिन)		(ग्राम/दिन)	
	देहाती	शहरी	देहाती	शहरी
1983	2221	2089	62.0	57.0
1993-94	2153	2071	60.2	57.2
1999-2000	2149	2156	59.1	58.5
2004-05	2047	2020	57.0	57.0

स्त्रोत – वही, Vol II table 4.1.5

यहां यह महत्वपूर्ण है कि सरकारी मापदंडों के हिसाब से भी देहाती क्षेत्र में **2400** किलो कैलोरी प्रति दिन और शहरी क्षेत्र में **2100** किलो कैलोरी प्रति दिन जरूरी है। यह भी गौर करने की बात है कि तालिका में प्रस्तुत आंकड़े औसत है। स्वयं योजना रिपोर्ट के हिसाब से यदि न्यूनतम सुनिश्चित करना है तो और कम से कम **20** प्रतिशत ज्यादा होना चाहिए यानी उसे क्रमशः **2880** किलो कैलोरी और **2520** किलो कैलोरी होना चाहिए।

इस हिसाब से देखें तो **1983** में भी औसत कैलोरी उपभोग जरूरत से बहुत कम था–**2880** के मुकाबले **2221** और **2520** के मुकाबले **2089**। यह बीस साल बाद और घट गया। यह क्रमशः **2047** और **2020** रह गया। इसके हिसाब से तो गरीबी की रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या बढ़नी चाहिए।

जैसा कि पहले कहा गया है, यह आंकड़ा औसत है। अब पूंजीपति वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग के लोग जरूरत से ज्यादा उपभोग करते हैं। वे मोटापे की समस्या से ग्रस्त होते हैं। यानी यदि उन्हें निकाल दिया जाय तो गरीब लोगों का औसत और नीचे चला जायेगा। उदारीकरण के दौर में रोजगार की हालत को देखते हुए इस बात में कोई शक नहीं रह जाता कि देश में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या पहले के मुकाबले बढ़ी है। उत्सा पटनायक के अनुसार तो देहाती क्षेत्रों में यह संख्या **80** प्रतिशत से ऊपर है।

उपरोक्त तालिका यह भी दिखाती है कि पहले के मुकाबले प्रोटीन उपभोग कम हुआ है। अन्य आकड़े बताते हैं कि देश में पिछले दशक में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता कम होती गयी है और अब वह आजादी से पहले के भी नीचे चली गई है। योजना रिपोर्ट भी इसे

स्वीकार करती है कि यह नहीं कहा जा सकता कि लोग अब अनाज के बदले अन्य चीजों को ज्यादा उपभोग करने लगे हैं। वास्तव में समग्र उपभोग ही कम हो गया है।

यहां यह महत्वपूर्ण है कि उपभोग में यह गिरावट निरपेक्ष है यानी यह पूंजीपति वर्ग के बढ़ते उपभोग के मुकाबले गिरावट ;ठहरा होना या कम दर से बढ़नाद्ध नहीं है बल्कि यह स्वयं के पहले के उपभोग के मुकाबले गिरावट है। देश की गरीब आबादी पहले जितना उपभोग करती थी अब उससे भी कम उपभोग कर रही है। यदि इसे सापेक्ष गिरावट के साथ देखा जाय तो बहुत ज्यादा हो जाती है। यानी तब उत्सा पटनायक जैसे लोगों की बात में कोई संदेह नहीं रह जाता। सापेक्षिक तौर पर देखें तो गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ती गई है।

आबादी के बड़े हिस्से की बदहाली अन्य रूपों में भी अभिव्यक्त होती है। तीन साल तक की उम्र के बच्चों में सामान्य से कम वजन वाले बच्चों का हिस्सा **2005–06** में **45.9** प्रतिशत था। यह **1992–93** में **53.4** प्रतिशत था। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि **6** से **35** माह के बच्चों में एनीमिया के शिकार बच्चों की संख्या **1998–99** में **74.2** प्रतिशत से बढ़कर **2005–06** में **79.2** प्रतिशत हो गई। इसी तरह **15** से **49** साल के शादीशुदा औरतों में एनीमिया की शिकार औरतों की संख्या **51.8** प्रतिशत से बढ़कर **56.2** प्रतिशत हो गयी। कहने की जरूरत नहीं कि सामान्य से कम वजन या एनीमिया का सीधा संबंध उपभोग से यानी गरीबी से है।

बढ़ती बेरोजगारी, गिरती मजदूरी, छोटी सम्पत्ति का हरण, सस्ते दामों पर सरकार द्वारा उपलब्ध कराये जा रहे खाद्यान्नों का खात्मा इत्यादि ने मजदूर वर्ग और गरीब आबादी की स्थिति को बद से बदतर बनाया है। यह उपरोक्त सारे आंकड़ों में अभिव्यक्त हो रहा है।

भारत का पूंजीपति वर्ग अपने देश के बारे में चाहे जो बोले यथार्थ यह है कि भारत की भारी आबादी की स्थिति अन्य गरीब मुल्कों के मुकाबले भी अच्छी नहीं है। जैसा पहले बताया गया है कि भारत में करीब आधे बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। यह स्थिति अफ्रीका के गरीब देशों के मुकाबले भी बुरी है। योजना रिपोर्ट इस संबंध में कहती है :

> ''**4.1.14** आजादी के साठ साल बाद तीन साल से कम उम्र के बच्चों में से करीब आधे कुपोषण के शिकार हैं। दुनिया में कुपोषण के शिकार सबसे ज्यादा बच्चे भारत में हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में कुपोषण की दर अफ्रीका की औसत दर से ज्यादा है। कुपोषण के मामले में दक्षिण एशिया दुनिया में सबसे खराब स्थिति में है और दक्षिण एशिया में भारत ;नेपाल और बांग्ला देश के साथद्ध सबसे खराब स्थिति में। यहां तक कि भारत के सबसे बेहतर प्रदेश केरल में भी कुपोषण की दर अफ्रीका की औसत दर के बराबर है।'' (वही,**Vol-III, P-131**)

तलिका–14

कुछ चुने हुए देशं का स्वास्थ्य सूचकांक

देश	प्रति हजार जीवित जन्म पर शिशु मृत्यु दर	उम्र संभवना पुरुश /स्त्री (साल)	प्रति एक लाख जीवित जन्म पर जच्चा मुज्यु दर	कुज जन्म दर
भारत	58	63.9/66.9	301	2.90
चीन	32	70.6/74.2	56	1.72
जापान	3	78.9/86.1	10	1.35
कोरिया गणराज्य	3	74.2/81.5	20	1.19
इंडोनेशिया	36	66..2/69.9	230	2.25
मलेशिया	9	71.6/76.2	41	2.71
वियतनाम	27	69.5/73.5	130	2.19
बांग्ला देश	52	63.3/65.1	380	3.04
नेपाल	58	62.4/63.4	740	3.40
पाकिस्तान	73	64.0/64.3	500	3.87
श्री लंका	15	72.2/77.5	92	1.89

स्त्रोत : वही, Vil II, table 3.1.1

VI पूंजीपति वर्ग का उभरता भारत

साम्राज्यवादियों ने दुनिया के कुछ देशों की पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं को उभरती अर्थव्यवस्था की संज्ञा से विभूषित किया है। इसमें से एक भारत भी है। कहा जा रहा है कि ये अर्थव्यवस्थाएं ही भविष्य में दुनिया की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करेंगी। इसमें भी

खासकर भारत और चीन का नाम लिया जा रहा है। वर्तमान वैश्विक संकट की शुरुआत में भी यह कहा जा रहा था कि भारत और चीन संकट से बच जायेंगे। वे बाकी संकट ग्रस्त अर्थव्यवस्थाओं के लिए इंजन का काम करेंगे। भारत का पूंजीपति वर्ग भी अपने बारे मे खुशपफहमी का शिकार है।

भारतीय पूंजीवाद के वर्तमान को हमने देखा। इसके भविष्य के बारे में बात करने से पहले एक नजर अतीत पर डाल लें।

1947 में सत्ता हथियाने के बाद भारत के पूंजीपति वर्ग ने अपने विकास की शुरुआत तथाकथित मिश्रित अर्थव्यवस्था से की थी। इसमें निजी पूंजी को विकास की पूरी छूट देते हुए उसकी सहायता के लिए, उसके संचय के लिए सारी स्थितियां सुलभ कराने के लिए पूंजीवादी सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र खड़ा किया गया। साथ ही देशी बाजार को भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए सुरक्षित रखने हेतु आयात–निर्यात और विदेशी पूंजी निवेश पर कड़ा सरकारी नियंत्रण कायम किया गया। तकनीक के विकास या आयात का जिम्मा पूंजीपति वर्ग के राज्य ने खुद ले लिया। यह भारत में पूंजीवाद के विकास का वह रास्ता था जो खुद पूंजीपति वर्ग ने **1947** से पहले प्रस्तावित किया था। यह राज्य की प्रमुख भूमिका वाले किसी हद तक राज्य नियंत्रित पूंजीवादी विकास का रास्ता था।

लेकिन पूंजीवादी विकास का यह रास्ता उस सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था पर आरोपित था जो **1947** से पहले से चला आ रहा था। उसमें केवल इस रास्ते की सपफलता के लिए महज सुधार कर दिये गये थे। पूंजीवाद के समग्र, संतुलित और तेज विकास के लिए मूलभूत तौर पर जरूरी भूमि सुधार ;खासकर जमीन के बंटवारेद्ध को अंजाम नहीं दिया गया और उसे केवल मध्यस्थों की समाप्ति और किसी हद तक किरायेदारी पर रोक तक सीमित कर दिया गया। इसी तरह सामाजिक तौर पर जाति व्यवस्था और औरतों की गुलामी तथा आदिवासी जनों के हाशियाकरण को समाप्त करने के बदले उन्हें सुधारों के जरिये पूंजीवाद के अनुरूप ढालने का प्रयास किया गया। कहने की बात नही कि यह सब भारत के कमजोर, समझौतापरस्त पूंजीपति वर्ग के चरित्र के अनुरूप था।

पुरानी संरचना ;अ(सामंतीद्ध पर आरोपित और राज्य द्वारा संचालित– नियंत्रित पूंजीवादी विकास भारत में आगे बढ़ा लेकिन इसकी अपनी सीमाएं थीं। ये सीमाएं **1960** के दशक के अंत में व **1970** के दशक के शुरू में अधिकाधिक उजागर होने लगीं। इस विकास की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह कभी भी संकट से अछूता नहीं रहा और एक संकट से दूसरे संकट की यात्रा करता रहा।

लेकिन पूंजीपति वर्ग के हित में एक बात हुई। पुरानी व्यवस्था पर आरोपित पूंजीवादी विकास की इस प्रक्रिया ने क्रमशः पुराने उत्पादन सम्बन्धों को किनारे लगा दिया और समाज में पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को स्थापित कर दिया। यह अलग बात है कि पुरानी व्यवस्था के अवशेष कम या ज्यादा मात्रा में आधार और अधिरचना में बने रहे।

लेकिन समाज में पूंजीवादी सम्बन्धों की स्थापना के साथ–साथ यह भी हुआ कि भारत का पूंजीपति वर्ग ताकतवर और साधन संपन्न हो गया। उसके राज्य ने उसके लिए अवरचनागत ढांचा उपलब्ध करा दिया था और साथ ही भारी मात्रा में पूंजी संचय करने में उसकी मदद की थी। सार्वजनिक क्षेत्र इसी काम आया था। संरक्षणवाद और आयात–प्रतिस्थापन इसमें बहुत मददगार रहा था। लेकिन इसके साथ यह भी था कि इसके लिए पूंजीपति वर्ग को एक हद तक नियंत्रण और नियमन ;तथाकथित लाइसेन्स–परमिट राजद्ध स्वीकार करना पड़ा था। इसके बिना पूंजीवादी राज्य पूंजीवादी विकास को संचालित भी नहीं कर सकता था।

1980 के दशक से भारत के पूंजीपति वर्ग को यह लगने लगा था कि वह अब अपने बल पर पूंजी संचय को बखूबी अंजाम दे सकता है। उसे अपने राज्य की बैसाखी की जरूरत नहीं है। बल्कि राज्य के नियम–कानून, अर्थव्यवस्था में उसका हस्तक्षेप उसे अपने पूंजी संचय की राह में बाधा भी लगने लगे थे। इसलिए राज्य के नियंत्रण से मुक्ति और वैश्विक पूंजीवाद से जुड़ने की बातें छिट–पुट रूप में शुरू हो गईं। धीमे–धीमे इसे अमल में भी लाया जाने लगा। इसकी शुरुआत इंदिरा गांधी सरकार ने की थी और उनके बेटे की सरकार ने इसे कापफी आगे बढ़ाया। राजीव गांधी ने इसे ही इक्कीसवीं सदी में जाने का नाम दिया था।

लेकिन ये सारे कदम अभी आधे–अधूरे थे। पूंजीपति वर्ग अभी अपने बारे में बहुत निश्चित नहीं था। अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण करने वाले सरकारी तंत्र की अपनी जड़ता थी। नौकरशाही से लेकर पूंजीवादी राजनेताओं के अपने–अपने निहित हित भी इसमें शामिल थे। इस सबसे एक झटके में नाता तोड़ने के लिए किसी बड़े आवेग की जरूरत थी। और वह आवेग मिल गया **1989–91** में सोवियत खेमे के ध्वंस और अमेरिकी साम्राज्यवाद के तात्कालिक एकछत्र प्रभुत्व तथा **1990–91** में भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट में। इन्होंने एक झटके में **1991** में नरसिंहराव और मनमोहन सिंह सरकार द्वारा उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों को बड़े पैमाने पर लागू करने का रास्ता खोल दिया। मनमोहन सिंह संक्रमण के प्रतीक पुरुष बन गये। अभी **1988** में उन्होंने साउथ कमीशन के सचिव के तौर पर इन नीतियों की व्यापक आलोचना पेश की थी और अब भारत के वित्त मंत्री के तौर पर वे इन नीतियों को लागू कर रहे थे। वे 'वामपंथी' अर्थशास्त्री से दक्षिणपंथी वित्त मंत्री बन गये थे।

राज्य द्वारा नियंत्रित, निर्देशित पूंजीवाद से **1991** में 'खुले' या छुट्टा पूंजीवाद में यह संक्रमण न तो **1990–91** के आर्थिक संकट का नतीजा था और न ही साम्राज्यवाद के दबाव का हालांकि इसमें दोनों की तात्कालिक भूमिका थी। वस्तुतः यह भारतीय पूंजीवाद की दूरगामी आंतरिक गति का परिणाम था। इस तरह के संकट पहले भी आये थे लेकिन उन्होंने इस तरह की नीतियों को जन्म नहीं दिया था। इसी तरह साम्राज्यवाद का दबाव पहले भी था। अब ये कारगर हो गये तो इसलिए कि भारतीय पूंजीपति वर्ग खुद इधर ही बढ़ रहा था। वह पांव के नीचे की जमीन को टटोलते हुए धीमे–धीमे उदारीकरण–वैश्वीकरण की ओर बढ़ रहा था। पूरा **1980** का दशक इस तरह के कदमों से भरा पड़ा है। बल्कि **1990–91** के भुगतान संतुलन के संकट को पैदा करने में इन कदमों ने भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

भारत का पूंजीपति वर्ग अब क्रमशः इस नतीजे पर पहुंच गया था वह विश्व पूंजीवाद से एकाकार होकर न केवल खुद को बनाये रख सकता है बल्कि अपने पूंजी संचय को तेज कर सकता है। यही नहीं, उसे लगने लगा था कि राज्य का नियंत्रण, उसका अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप व विश्व पूंजीवाद से अलगाव उसके पूंजी संचय में बाधा बन रहे हैं। चीजें अपने विपरीत में बदल गयी थीं। जिन चीजों ने **1950–60** व **70** के दशक में भारत के पूंजीपति वर्ग के विकास में मदद की थी, यही नहीं महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, अब वे उसके आगे के विकास में बाधक बन गयी थीं। भारत का पूंजीवादी बच्चा अब बड़ा हो गया था और अब उसे अपने राज्य के अभिभावकत्व की जरूरत नहीं रह गयी थी।

यह सही है कि साम्राज्यवादी पूंजी आक्रामक थी और वह शाईलॉक की तरह अपना हिस्सा चाहती थी। लेकिन भारत का पूंजीपति वर्ग आश्वस्त था कि वह अपनी पूंजी और राज्य की ताकत का इस्तेमाल करते हुए साम्राज्यवादी पूंजी से सौदेबाजी कर सकता था और उसके कनिष्ठ साझीदार की हैसियत से वैश्विक मूल्य विनियोग में शामिल हो सकता था। वह साम्राज्यवादी पूंजी के सामने अस्तित्वविहीन नहीं हो जाने वाला था। शुरुआती आशंकाओं और हिचक के बाद पूंजीपति वर्ग की उम्मीद सही साबित हुयी।

लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि भारत का पूंजीपति वर्ग अपने देशी बाजार और उसका इस्तेमाल करने की अपनी सीमा से भी वाकिपफ था। सुधारवादी तरीके से, अध्यारोपित पूंजीवादी विकास का एक नतीजा यह भी हुआ था कि देश में पूंजीवादी संबंधों की प्रधानता के बावजूद आबादी का एक भारी हिस्सा सामान्य पूंजी–श्रम संबंधों से इतर छोटी संपत्ति से बंधा हुआ था। इसका बड़ा हिस्सा लगातार कंगाली में और नीचे धंसता जा रहा था। दूसरी ओर पूंजी–श्रम संबंधों के तहत जीने वाले मजदूर वर्ग का ज्यादा बड़ा हिस्सा असंगठित व अनौपचारिक क्षेत्र में था जहां मजदूरी बेहद कम थी। इस सबके चलते बाजार की कुल क्रय शक्ति बहुत सीमित हो जाती थी।

बाजार की यह सीमा पूंजी संचय की सीमा भी बांध देती थी। बाजार की शक्ति को बढ़ाने की कुछ संभावना मध्यम वर्ग में थी लेकिन इसके लिए जरूरी था कि नयी तकनीक और नये उपभोक्ता सामान उपलब्ध हों। उदारीकरण की नीतियों को लागू करते वक्त मध्यम वर्ग के बाजार पर जोर का यही कारण था। यही वह संभावनाशील बाजार था जो बढ़ सकता था क्योंकि पूंजीपति वर्ग और उसकी सरकार भलीभांति जानते थे कि नयी नीतियों के पफलस्वरूप मजदूर वर्ग और गरीब आबादी की क्रय शक्ति तो कम होगी।

एक ओर पूंजीपति वर्ग मजदूर वर्ग के बेशी ही नहीं आवश्यक श्रम को हड़प कर तथा साथ ही छोटी सम्पत्ति वालों के बेशी श्रम, आवश्यक श्रम व सम्पत्ति को हड़प कर अपने मुनापफे की दर बढ़ाना चाहता था। दूसरी ओर मध्यम वर्ग व पूंजीपति वर्ग के बढ़ते बाजार में उसे हासिल (realise) करना चाहता था। लेकिन मजदूर वर्ग और गरीब आबादी की क्रय शक्ति को कम कर मुनापफा बढ़ाने का रास्ता वही अंतर्विरोधों से भरा रास्ता था जो भारतीय पूंजीवाद को उधर ले गया जिसका इस लेख में वर्णन किया गया है। संक्षेप में यह कि विस्पफोटक स्थिति पैदा करने के अलावा यह रास्ता कहीं जाता नहीं है।

भारत के पूंजीपति वर्ग ने विदेशी बाजारों में भी अपनी पैठ के जरिये, अकेले या साम्राज्यवादी पूंजी के साथ गठबंधन में, अपना पूंजी संचय बढ़ाने का सपना देखा था। उदारीकरण–वैश्वीकरण में इसकी भी भूमिका थी। खासकर पिछड़े मुल्कों के बाजार पर इसकी नजर थी।

भारत के पूंजीवाद और पूंजीपति वर्ग का यही यथार्थ है। आज जो भारत में पूंजीवाद का 'तेज विकास' हो रहा है वह मजदूर वर्ग के बेशी श्रम ही नहीं आवश्यक श्रम के एक हिस्से को भी हड़प कर हो रहा है। यह छोटे किसानों, दस्तकारों इत्यादि छोटी सम्पत्ति के मालिकों के बेशी श्रम, आवश्यक श्रम के एक हिस्से तथा सम्पत्ति को हड़प कर हो रहा है। इसी का नतीजा है कि छोटी सम्पत्ति के मालिक तबाह हो रहे हैं। इसी का नतीजा है कि उद्योगों में रोजगार विहीन वृ(हो रही है और जो नये रोजगार पैदा हो रहे हैं उनमें न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिल रही है। मजदूर आधा तीहा मजदूरी पर काम करने को मजबूर हो रहे हैं।

लेकिन यहीं से अन्य चीजों के साथ–साथ पूंजीपति वर्ग के लिए पैदा हुए मुनापफे को हासिल करने का संकट भी और बड़े पैमाने पर पैदा हो रहा है। मजदूरी घटाकर बेशी मूल्य की दर बढ़ायी जा सकती है लेकिन साथ ही क्रय शक्ति घट जाने से उत्पादित बेशी मूल्य को हासिल करने का संकट भी खड़ा हो जाता है। इस संकट से भारत का पूंजीपति वर्ग न तो मध्यम वर्ग के बाजार बढ़ा कर ;मध्यम वर्ग के ऊपरी हिस्से को कुछ जूठन पैफंक कर यानी उनकी तनख्वाहें बढ़ाकरद्ध पार पा सकता है और न ही साम्राज्यवादियों द्वारा संपृक्त विदेशी बाजारों में अपना माल बेच कर या निवेश कर। भारत के पूंजीपति वर्ग को विदेशी बाजारों की वह सुविधा हासिल नहीं है जो उन्नीसवीं सदी में यूरोप–अमेरिका के उभरते पूंजीवादी देशों को थी।

इसीलिए भारत के 'उभरते' पूंजीवाद को इस संकट से मुक्ति नहीं मिलने वाली है। यही नहीं, भारत के मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता के और ज्यादा शोषण से यह बढ़ेगा ही।

जैसा कि पहले कहा गया है भारतीय पूंजीवाद एक के बाद एक संकटों से ग्रस्त रहा है। इसकी यात्रा एक संकट से दूसरे संकट की रही है। **1966–67, 1973–74, 1980–81,1990–91** इसके लिए बड़े संकट के समय रहे हैं। **1991** के बाद जो खुशनुमा साल पूंजीपति वर्ग के लिए गुजरे हैं वे और भी ज्यादा भीषण संकट के लिए ऊर्जा एकत्रित कर रहे हैं। यदि वर्तमान वैश्विक संकट गहराता है तो भारत का यह संचित होता संकट अभी ही पूफट पड़ेगा। नहीं तो यह संचित होता हुआ भविष्य में कभी पूफटेगा।

और तब भारत का पूंजीपति वर्ग पायेगा कि उसके विकसित पूंजीवाद का ख्वाब, इक्कीसवीं सदी को भारतीय पूंजीवाद की सदी बनाने का ख्वाब केवल ख्वाब ही था, उसका यथार्थ से कोई लेना–देना नहीं था। यथार्थ तो उसे उल्टी दिशा में ले जा रहा था। पूंजीपति वर्ग की तात्कालिक सपफलता ही उसे उसके कब्र में ले जाने का मार्ग प्रशस्त कर रही थी।

.....